जीवन-कण

सम्पादक -

कृपाशंकर त्रिपाठी

साहित्य-सदन,

जयपुर।

सम्पादकीय निवेदन

'जीवनकण'–नामक संग्रह लेखक महोदय के जीवन के कतिपय यथार्थ अनुभवों का एक छोटा सा संकलन है, जिन्हें वह समय २ पर नोट्स, डायरी अथवा लेखों के रूप में लिखते रहे हैं और लिखते रहते हैं। इस तरह के नोट्स या लेखों का उनके पास पर्याप्त संग्रह होगया है जिनमें से कुछ को ही मैं चुन सका। लेखक महोदय इन नोट्स को लिखते समय उन्हें छपाने की भी कोई भावना रखते हैं, या नहीं, इसका मुझे उनकी बातचीत से अनुमान नहीं हो सका! मैं समझता हूं नहीं ही रखते होंगे, अन्यथा नट्स न लिख कर उन्होंने सब लेख ही लिखे होते परन्तु मैंने इन्हें मुद्रणीय समझा और मेरे आग्रह पर उन्होंने कुछ चुने हुए नोटस और लेखों को मुद्रण के योग्य बना दिया है। मैं चाहता था कि मैं लेखक का नाम पाठकों को दे सकता, परन्तु इसमें उन्हें बाधा थी। वास्तविक अनुभव से संबंध होने के कारण ये हैं ख, लेखक का परिचय दिए जाने पर किन्हीं पाठकों के सामने कुछ

...तविक व्यक्तियों या घटनाओं को न ले आयें, इसी भय से वह अपना नाम छिपा रहे हैं। इन लेखों में यदि कोई नाम अदि कोई आए हैं तो वे लगभग सब मिथ्या हैं।

इन लेखों के चुनाव में मेरे सामने जो सिद्धान्त रहा है वह इनके भीतर निहित चारित्रिक संकेत है। ये लेख लेखक के ही ऊपर होनेवाली प्रतिक्रियाओ के रूप में हैं। उन्होंने इन मे अधिकतर अपने ही बारे में कहा है। दूसरी श्रेणी के नोट्स वे है जिनमें लेखक ने अपने ऊपर होने वाली प्रतिक्रियाओं के उद्गमस्थल, संसार या समाज, को देखा है।

इन लेखों को छपाने के मेरे आग्रह का कारण यह है कि, मेरी क्षुद्र दृष्टि में, ये लेख अपना एक साहित्यिक मूल्य भी रखते हैं। हृदय के शुद्ध उद्गार होने के हेतु से इन में वेग है और ये पाठक के हृदय का स्पर्श करते हैं। इनका व्यंग्य बड़ा मीठा और तीखा है और वह सर्वत्र व्याप्त है। लेखक ने मानों जीवन में सर्वत्र व्यंग्य ही व्यंग्य पाया हो। व्यंग्य तो थोड़ा-बहुत सब ही को मिलता है परन्तु उस व्यंग्य को समझ कर व्यंग्य के ही रूप में ग्रहण करना और दूसरों को दे सकना एक कुशलता है। लेखक ने अपने आपको भी अपने व्यंग्य-प्रहारों से मुक्त नहीं रखा है।

परन्तु व्यंग्य ही नहीं, गम्भीरता भी लेखक महोदय के लेखों का गुण है। इसी प्रकार हास्य अथवा विनोद से भी लेखक को विशेष रुचि मालूम होती है। जीवन के व्यंग्य के साथ ही साथ वह उसी जीवन में विनोद की सामग्री भी किस प्रकार ढूंढ लेते हैं! इससे उनकी सहानुभूतिपूर्ण सहृदयता का अनुमान किया जा सकता है। यह भी देखा जासकता है कि इस व्यंग्य और विनोद की वृत्ति में कोरा मन-बहलाव ही नहीं है उस में सदा किसी न किसी जीवन तथ्य का संकेत रहता है।

मैं यह भी देखता हूँ कि लेखक को भाषा पर भी अधिकार प्राप्त है, सरल से सरल, बोलचाल की हिन्दी-उर्दू-मिश्रित भाषा, या तत्समपदसंयुक्त प्रांजल देववाणीसम हिन्दी, दोनों ही वह समान शक्ति से लिख सकते हैं। इस संकलन के लेखों में विशेष स्थलों को छोड़ कर सामान्यतः शैली का प्रसार रात दिन की आपसी बोलचाल के ढंग पर ही हुआ है। लेखक महोदय अंग्रेजी में भी लिखते हैं। इस संग्रह के अधिक लेख उनके अंग्रेजी नोट्स के संवर्धित अनुवाद हैं, जिन्हें उन्होंने हिन्दी में मेरी ही प्रार्थना पर तैयार किया है।

इसके अतिरिक्त इन लेखों की एक अन्य प्रकार की नवीनता पर मैं बहुत मुग्ध हुआ हूँ। इन लेखों

इन्हें हम न कहानी ही कह सकते हैं, न उपन्यास ही, न जीवनचरित्र या आत्मचरित्र ही, और न निबंध ही। फिर भी ये कुछ नहीं हैं ऐसा तो नहीं है। लेखक ने इन्हें मुद्रण के उद्देश्य से नहीं लिखा था, इस दृष्टि से भले ही इन्हें "कुछ नहीं" कह लिया जाय; पर प्रकाशित होने के बाद तो ये कुछ हैं ही। क्या हैं, सो तो साहित्यज्ञ विद्वान् ही निर्णय कर सकेंगे। मैं तो यही कह सकता हूँ कि मुझे ये चीजें खूब चुभीं। आशा है दूसरों को भी चुभेंगी।

इच्छा है कि लेखक के शेष नोट्स को भी लेख रूप में धीरे-धीरे प्रकाशित करा सकूँ।

विनीत

मोतीसिंह भोमिया का रास्ता,
जयपुर। } कृपाशंकर त्रिपाठी।

लेख-तालिका

टाँडा-यात्रा

अचानक मेरे मित्र ने शाम के समय मेरे कमरे में आकर कहा, "बोल, यार, रात की गाड़ी से टाँडा-फ़ॉल देखने चलना चाहता है ?"

"यह कैसा विचार सहसा ?" मैंने उत्सुकता से पूछा ।

"कुछ नहीं, दो रोज़ की छुट्टी है, मौसम बड़ा अच्छा है; वैसे ही शत्रुघ्न से ज़िक्र होगया और तय हुआ कि अगर तुम्हारी भी राय हो तो तीनों लोग इसी गाड़ी से चल पड़ें ।"

मित्र शर्मा मिर्ज़ापुर में कई वर्ष रह चुके थे और विन्ध्य सौन्दर्य से परिचित थे। यूनिवर्सिटी के तालिबेइल्म को छोटे-मोटे विनोदों के लिये सोचना नहीं पड़ता। मेरे 'सही' करने की देरी थी कि तीनों पन्द्रह मिनट में सन्नद्ध होगए। तैयारी ही क्या करनी थी। एक-एक धोती-कमीज़, दो दरियाँ, तकिए अलबत्ता तीन, और किसी से माँगी हुई एक बाँस की लाठी। लिबास तीनों का अलग अलग। यानी शत्रुघ्नजी कोट और गरारेदार काश्मीरी पाजामे में; शर्माजी फ़ौजी अंग्रेज के ख़ाकी हाफ़ पैन्ट, कोट और सोला-हैट में; और ख़ाकसार धोती-कुर्ता और लखनऊ की दुपल्ली टोपी में। मानों हम तीन सभ्यताओं

के तीन प्रतिनिधि आर्यावर्त और उत्तरावर्त्त की सम्मिलन-रेखा में अपने सम्मेलन-गौरव का प्रतिविम्ब देखने जा रहे हों।

यूनिवर्सिटी में सवारियाँ मिलने में दिक्कत होती थी। इधर-उधर नज़र कुछ दौड़ाई अवश्य होगी, परन्तु यह कोई विशेष समस्या न मालूम हुई। बीसवीं शताब्दी के थे तो क्या, उम्र तो हमें जवान कहती ही थी—और फिर, पिकनिक का टॉनिक मिला था। सिपाहियाना शर्मा ने शत्रुघ्न के हाथ से लाठी खींच कर गठरी को उसके बीच में सरका दिया। "पकड़ एक सिरा शत्रुघ्न!—और आओ!" "और आओ," सेना-पति का आदेश था। चार मील दूर की पोंस रखने वाला रेलवे स्टेशन, लाठी के सिरों की अदल-बदल में ही, बातें करते-करते, हमारे पैरों के नीचे आ रहा।

गाड़ी के आने में अभी देर थी। एक समस्या आई। वस्तुतः तो सेनासंचालन में सेनासंचालन की सहूलियतों के अतिरिक्त और किसी प्रकार की समस्याएँ भी होती होंगी, इसके सोचने का भार मैं आज भी कमांडर शर्मा पर छोड़ देना ही पसन्द करता हूँ। फिर, किसी प्रकार की समस्याएँ यदि नियमों से सम्बन्ध रखती हों तो नियमों का पालन करने से वे दूर हो जाती हैं। पर जीवनवृत्ति में नियमों को दलित करने की वासना का भी एक उदार अंश है। और फिर सैनिक जीवन! जिन लोगों ने मिल कर पिकनिक किए हैं या जिन्होंने सन् '४२–'४३ में रेलयात्रा की चेष्टा करके; प्रोद्भुद्ध देशसेवा के नाते, सैनिकों की सम्माननीय अराजकता का मधुरस चक्खा है वे इस सत्य को, आशा है, कुछ समझ सकेंगे। मैंने

कमांडर शर्मा के साथ उस बार पिकनिक किया था और इस बार ('४२–'४३ में) रेलयात्रा की थी, अतः शायद कुछ समझता हूँ। कमाडर शर्मा के पास नियम-संबंधिनी कोई समस्या नहीं थी।

समस्या थी कि सहूलियत से किस तरह मिर्जापुर पहुँचा जाए। यानी रेल–यात्रा के नियम किस तरह तोड़े जाएँ। सो, एक कोने में खड़े होकर, इधर-उधर ताक-झाँक कर, नायक ने चुपके से हल किया कि तीनों आदमी अलग अलग तीन डब्बों में बैठें। और गठरी ? गठरी तो सिर्फ एक के पास वर्थ के नीचे घुस जाएगी।–या ऊपर भी रहे तो किसका बाप उसके बाप से टिकिट माँग सकता है !

आज चुपके से कहता हूँ कि उस समय का मेरा आचरण बड़ा लज्जाजनक रहा। शत्रुघ्नजी तो नए रँगरूट थे–जैसे कि रंगरूट '४२–'४३ में रेलगाड़ियों में बहुत दिखाई दिए हैं। उन्होंने तत्काल सेनापति को मिलिटरी सैल्यूट दिया और फ़र्माया–"बिलकुल सही कहता है, शर्मा और गठरी तू मेरे सुपुर्द कर।" सेनापति को इस तरह अभि हित करने के उनके अपराध को आप मुआफ करदें, क्योंकि उन्होंने अलग बैठने के अलावा गठरी का भी भार अपने ऊपर लिया था। पर मुझ विद्रोही को भी क्षमा करोगे क्या ? ओह, शर्माजी, बलिहारी है तुम्हें ! कितनी सरलता से, बिना कोई आपत्ति किए, मेरी आपत्ति पर तुमने स्वीकार कर लिया "अच्छी बात है। तुम्हारे लिए एक टिकट खरीद लेंगे।"

शायद चौरो बजे गाड़ी मिर्ज़ापुर पहुँची होगी। मैं डब्बे-

से उतरा ही था कि शर्माजी, टिकटचेकर के ढंग से मौजूद, उसी के ढँग से नपी-तुली व्यवहार की भाषा में, बोले—"मैं, देखो, मौक़ा देख कर बाहर पहुँचता हूँ। तुम्हारे पास तो टिकट है। सो, शत्रुघ्न को तलाश करके उसके निकलने पर तुम बाहर आना।" और वह गए—वह गए—न मालूम किधर को—जैसे किसी बिला-टिकट मुसाफ़िर पर उनकी नज़र पड़ गई हो। उसी दम मैंने डायरी में नोट किया कि टिकटचेकरी की शान टिकटचेकर में ही नहीं, बल्कि खाकी हाफ़पैंटवाले किसी-किसी बिला-टिकट यात्री में भी कभी कभी निवास करती है।

मैंने सारी गाड़ी में जोशीले नए रँगरूट को तलाश किया। मगर मेरी तलाश से क्या?—उसे तो अपने नए जोश में सर्वप्रथम मौक़े की तलाश रही होगी। मैंने सोचा, "शायद वह मुसाफ़िरों में मिल गया।" अतः यहाँ असफल होकर ओवरब्रिज पर उसे पा लेने की मैंने आशा की।

ओवरब्रिज पर कुछ मुसाफ़िर थे। परन्तु शत्रुघ्नजी उनमें कहीं दिखाई न दिए। रेलवे टिकिट से नफरत करनेवाले—जैसे कि '४२–'४३ का योद्धा सिविलियन जनता से नफ़रत करता है—वीरों के कुछ साधनों की बात मैंने पहले से सुन रक्खी थी। अतः विचार हुआ कि शत्रुघ्नजी शायद वेटिङ्ग रूम में होंगे, या टी-स्टाल पर चाय पीते हुए प्रतीक्षा कर रहे होंगे कि कब ओवरब्रिज से टिकट-कलक्टर नदारद हो।

मुझे अफ़सोस होता है कि मैंने उस ज़माने में—और तो, इस यात्रा के लिए ही—सिगरेट पीना क्यों नहीं

सीख लिया था। क्योंकि मुझे आधे घन्टे तक एक अजनबी ओवरब्रिज की तलहटी में टहल-टहल कर शत्रुघ्नजी का इन्तज़ार करना पड़ा, और फिर भी वह नहीं आए।

इस विडम्बना पर झुंझलाहट होना तो स्वाभाविक ही था। यानी हाफ़पेंट तो उस तरह रेलवे ऐडमिनिस्ट्रेशन की मूछें मूँड कर पार हो गया, पाजामा खड़ा कहीं चाय पी रहा है, मगर धोती एक साहूकार चोर की मनोवृत्ति के प्रथम अभ्यास में टहल-टहल कर बेचैन है। डर यह है कि नज़र पड़ने पर टिकट—कलक्टर साहब, टिकट रहते हुए भी कहीं उसे, अर्थात् धोती को, स्टेशन से निकाल बाहर न कर दें। इस भय की संभावना सच्ची थी क्योंकि ओवरब्रिज पर कलक्टर साहब अब अपना काम क़रीब-क़रीब निबटा चुके थे। वह यदि नीचे उतरने पर मुझे संदिग्ध ढंग से टहलता देख कर अपनी सज्जनतावश मेरी मिज़ाजपुर्सी के लिए पूछने लगे कि "जनाब, इस आधीरात में मेरी खुली हुकूमत के नीचे आप इस तरह क्यों तकलीफ़ फ़रमा रहे हैं?" —तो क्या मैं उन्हें कष्ट पहुँचाने के लिए उनसे यह कह सकूँगा कि मेरे मित्र शत्रुघ्नजी अपने खोए हुए टिकट की तलाश में कहीं आधे घंटे से मशग़ूल हैं?

पस, धोती की अवमानना और अपने डर को अस्वीकार करने के लिए ही खिदमतगार ने निश्चय किया कि अकेले चाय पीना शराफ़त की निशानी नहीं है। चुनांचे, प्लेटफ़ार्म के एक कोने में छिप कर टहलने के बजाय सारे प्लेटफ़ार्म

टी-स्टाल प्लैटफार्म के उस सिरे पर था। आत्मा ने गोया अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लिया था और वह तंग संसार की इस असार भटकन को ठुकरा कर अपने असली लम्बे ध्येय, चाय, के लिए चल पड़ी थी! यदि कहीं शत्रुघ्नजी का मुँह दूसरी तरफ को हुआ तो, याद रखना, चुपके से जाकर पीछे से उनका प्याला उठा लेने की स्कीम तैयार ही थी।

परन्तु पण्डितों ने यह भी बतलाया है कि आत्मा का ध्येय प्राप्त होते-होते न मालूम कितने स्खलन होते हैं। मैं, मानों उन स्खलनों की सावधानी में ही, प्लैटफार्म की लम्बाई में उसकी दृश्यमान चौड़ाई को भी नाँपता हुआ, चारों तरफ नज़र दौड़ाता हुआ, सँभल-सँभल कर चल रहा था। तभी, कहीं अटकना पड़ गया।

यह स्टेशन-मास्टर का कमरा था। स्टेशन-मास्टर की कुर्सी पर बैठे हुए एक अंसज्जन के सामने मेज़ के इधर, शत्रुघ्नजी न मालूम अपने चोरी गए टिकिट का उस पर दावा कर रहे थे, न मालूम वह असज्जन रेलवे कम्पनी का एक टिकिट कम बिकने की ज़म्मेदारी उन पर ठोक रहा था। मानों शत्रुघ्नजी हमारे शत्रुघ्नजी न होकर यूनिवर्सिटी-टाउन के बुकिंग-क्लार्क हों। हुज्जत हो रही थी। मैंने छिप कर ज़रा सा दृश्य देखा और फिर धोती सँभाल कर पाजामे की सूचना नायक हाफ़पॅट को देने के लिए उलटे-पैर भागा।

टिकट-कलक्टर साहब ओवरब्रिज पर अब नहीं थे। टिकट के लिए पूछने वाला कोई नहीं था। सेनापति के

प्रबंध में बाधा डाल कर अपने लिए टिकिट खरीदने की कुवृत्ति पर मुझे इस समय ग्लानि हुई। और शत्रुघ्नजी, नए रँगरूट! क्यों न वह भी मेरी तरह ओवरब्रिज के नीचे आधा घंटा टहल कर स्टेशन-मास्टर के कमरे तक एक चक्कर लगा आए? जी में हुआ कि अपनी कायरता के प्रतीक उस टिकिट को टुकड़े-टुकड़े कर पैरों-तले खूब कुचलूँ, खूब कुचलूँ। पर देर हो रही थी।

शर्माजी ने सब बयान सुना और मुझे टीन के मुसाफिर-खाने में छोड़ कर स्टेशन जाने को उद्यत हुए। मगर मैंने साफ़ कह दिया, "भई, अब तुम आधा घंटा लगाओगे। मुझे इस तरह का इन्तजार पसन्द नहीं। मेरे पास टिकट है, मैं भी चलता हूँ।"

"टिकट है? अरे, तब तो काम बन गया! ला, टिकट मुझे दे।"

"और मैं?"

"अपने लिए प्लैटफ़ार्म-टिकट खरीद ले।"

मैंने टिकिट शर्माजी को सौंप कर, उनके सामने ही, टिकट खरीदने और टिकिट रोक रखने की अपनी दो-दो बुद्धिमानियों को जी खोल कर बधाई दी। दिल में चुपचाप सोच लिया कि आवेश में काम कर बैठना—भले ही वह टिकट को फाड़ डालने का ही काम हो—अच्छा नहीं होता। और उसी समय दो बुद्धिमानियाँ, खुद-ब-खुद, और कर डालीं। अर्थात्, एक के बजाय दो प्लैटफ़ार्म-टिकिट ख़रीद लिए।

२

मिस्टर शर्मा ने एक क्षण को जासूस की दृष्टि फेंक कर स्टेशन-मास्टर के कमरे की, ज़रा दूर से, तलाशी ली और फिर धड़धड़ाते हुए कमरे में घुस गए। मैं भी अलमस्ती से–अपने बारे में इससे बुरा शब्द मिलता नहीं–रईस के ठाठ में, उनके पीछे-पीछे धीरे-धीरे रेंगा। मगर दिल धड़क रहा था; क्योंकि जेब में अब यात्रा–टिकट के स्थान में महज़ मिर्ज़ापुरी टिकट (प्लैटफ़ार्म टिकट) रह गया था।

मैं सुन तो चुका था कि शर्माजी स्कूली दिनों में बहुत से ड्रामा खेल चुके थे। देखने का सौभाग्य न मिला था। अब देखा–और सो भी बिना तैयारी का। हाफ़पेंन्ट की मर्यादा में अंग्रेज़ी की टाँग तोड़ते हुए शर्माजी, स्टेशन-मास्टर की कुर्सीवाले आदमी की उपस्थिति को न देखते हुए, शत्रुघ्नजी से बोले–" Hullo, Sir Vakil Sahib, I—you see—मैं आपको half hour से whole स्टेशन पर ढूँढ रहा हूँ। Rai Sahib is inkshus waiting in car. And you Sir is chatting with this Mr. Station Mister." फिर स्टेशन-मास्टर से, " Big your pawrdon, Sir. He is Rai Sahib's son-in-law and I his shoefor." पुनः शत्रुघ्नजी से, "तो आइये न, या राय साहब से कह दूँ अभी यहीं बैठेंगे ?"

स्टेशन-मास्टर की कुर्सीवाला शख्स तो हक्का-बक्का रह गया और इस बीच में उसकी मानसिक स्थिति से लाभ

उठा कर मेज़ की आड़ में को उन्होंने शत्रुघ्नजी के हाथ में चुपचाप से टिकट सरका दिया। शत्रुघ्नजी खुद हक्के-बक्के हो रहे शर्माजी की तात्कालिक कलाबाज़ी पर; और, मुझे पूर्ण विश्वास है कि, वह स्थिति की नई आकस्मिकता को स्वाभाविक ढंग से ग्रहण करने में असमर्थ थे। परन्तु 'शोफ़र' शर्मा क्या इसे नहीं समझते थे। इसीलिये, मिस्टर शत्रुघ्न को ज़रा सँभलने का मौक़ा देने के लिए, उन्होंने स्टेशन-मास्टर से फ़र्माया, "तो जा सकते हैं वकील साहब अब ? The thing is, राय साहब को बड़ी late हो रही है। राय साहब ग़रीबधनजी!—आप जानते होंगे ?"

शर्माजी ने औसान ठीक करने का जो मौक़ा शत्रुघ्नजी को दिया वह गलती से थोड़ा-सा स्टेशन-मास्टर ने भी शायद ले लिया। क्योंकि उसने अँग्रेजी में ही कहा " Well, Mr. Driver, the son-in-law of your Rai Sahib had had a very bad education at Law. He travels without a ticket "

जोश में आकर शर्माजी बोले, "Impossible साहब, impossible, वकील साहब के पास least सेकंड क्लास का टिकिट होगा, I bet."

अब शत्रुघ्नजी कजूस दामाद की झेंप दिखाते हुए बोले, "नहीं ड्राइवर, अबकी बार थर्ड क्लास में ही आया हूँ—साथ की वजह से। मेरे एक दोस्त भी इस गाड़ी से आगे जारहे थे।"

"ओहो, सर वकील साहब, Rai Sahib will very

unplease जब वह सुनेंगे कि आप थर्ड क्लास में आए हैं, पर, फिर, मगर अब चलिए क्यों नहीं ?" फिर स्टेशन मास्टर से, "You, Sir, is not unplease because he came in third ? जाएँ वकील साहब अब ?" शर्माजी ने पूछा।

"जी, ड्राइवर साहब !" स्टेशन मास्टर ने कहा, "मगर आपके वकील साहब थर्ड में भी नहीं आए हैं। यह पैदल आए हैं।"

बहुत चौड़ा-सा मुँह फैला कर शर्माजी जैसे आसमान से गिर पड़े हों। उनके मुँह से अनायास निकल पड़ा, "What !"

"यानी इनके पास थर्ड का भी टिकट नहीं है, ड्राइवर साहब।"

अब शत्रुघ्नजी का मौक़ा आया। जितना हो सका उतना अपने ढँग को स्वाभाविक बनाकर उन्होंने बयान किया, "देखो ड्राइवर, मैं तुम्हें सब बात समझाऊँ। जब गाड़ी रुकी तो कुली से अपना अटैची-केस और बिस्तरा उतरवा कर मैं ज़रा दूसरी ओर सिगरेट लेने के लिए मुड़ गया। और किसी को भी वह पान-वान दे रहा था, सो सिगरेट लेने और पैसे देने में मुझे दो-तीन मिनट लग गए होंगे। जब घूम कर देखता हूँ तो कुली नदारद ! बड़ा हैरान मैं इधर उधर नज़र दौड़ाई, कहीं कुछ नहीं ! दौड़ कर ओवरब्रिज तक गया। फिर माथा ठनका और मैं लौटा गाड़ी के पीछे की ओर। तब

दिखाई दिया कि दूर, लाइन क्रास करके, कोई शख्स सिर पर कुछ रक्खे हुए यार्ड की तरफ़ दौड़ता-सा जा रहा है। मैं भी भागा उसके पीछे। मुझे ऐसा लगा कि वह रास्ते में किसी से कुछ बोलाभी हो। वह सतर्क था क्योंकि मैं उसे ललकार चुका था। मगर मुझ में और उसमें थोड़ा ही फर्क रह गया था कि वह स्टेशन–हद की दीवार तक पहुँच गया। डेढ़ सवा गज़ से ज्यादा ऊँची नहीं है यह दीवार, ड्राइवर–तुम जानते हो। कुली झट से सामान दूसरी ओर फेंक कर, खुद भी दीवार पर चढ़ कर उधर कूद गया। मगर, इतने ही मे मैं भी जब दीवार कूदने की कोशिश करने लगा तो एक खलासी ने शोर मचा कर मुझे पकड़ लिया और यहाँ ले आया।"

इस कहानी के बीच-बीच में शर्माजी ने कैसे-कैसे हाव-भाव दिखलाए और मौखिक उद्‍गार किए, उनकी कल्पना ही की जा सकती है। मुझ से उनका वर्णन नहीं होगा। मैं यह भी नहीं बयान कर सकता कि कहानी सुनने के बाद मुझे शत्रुघ्नजी के साथ अधिक सहानुभूति हुई या अपने साथ। कहानी के दौरान में ही मेरी आँखें गठरी टटोलने के व्यर्थ परिश्रम में लग गई थीं।

जब तक शत्रुघ्नजी कहते रहे तब तक स्टेशन-मास्टर का तर्ज एक स्कूलमास्टर के अनुमोदी धैर्य का सा तर्ज़ था, जिसका विद्यार्थी इन्सपेक्टर साहब के सामने उसके रटाए हुए पाठ को करीब-करीब सही-सही सुना रहा हो! और जब शत्रुघ्नजी कह चुके तो मास्टर साहब ने फौरन गोया अपनी श्लाघा के भाव से, इन्सपेक्टर-महत् ड्राइवरजी से कहा, "अब, ड्राइवर साहब,

राय साहब के दामाद सिर्फ इतना कहना भूल गए हैं कि टिकट बिस्तरे में लिपटा हुआ था।"

"हाँ, मैं कहना भूल गया कि मेरा टिकट मेरी इस जेब में था और वह या तो सिगरेट वाले को पैसे देते वक्त गिर गया या उस दीवार वाली कोशिश में।"

विद्यार्थी ने पाठ जैसे बिलकुल सही सुना दिया हो, इसकी खुशी में मास्टर साहब बोले, "सुन लिया, हजरत? अब आप राय साहब से जाकर राय लीजिए कि क्या किया जाए।"

"No, Sir, newer no. O Goud, राय साहिब से राय लीजिए!" शर्माजी को बड़ी देर बाद बोलने का अवसर मिला, "सर स्टेशन मिस्टर साहब, वकील साहब की बात में मुझे तो कोई एतराज नहीं है। Vakil Sahib is big boss of Arrah. But हलो सर वकील साहब, ज़रा याद कीजिए, कहीं आपने अपना टिकट सर. स्टेशन मिस्टर साहब की हिदायत के मुताबिक बिस्तरे में ही तो नहीं रख लिया था?"

शत्रुघ्नजी ने सात्त्विक झुँझलाहट और खीज का नाट्य करते हुए कहा, "Stupid, driver! Who will keep his Railway ticket in his hold--all unless he has the intellect of a Station Master or of a motor driver. Rai Sahib must be fretting terribly outside and

you are wasting time here. Go and tell him that Vakil Sahib has not come. I am fed up with this. Come now, Station Master ! what do you propose to do with me ?"

शत्रुघ्नजी की इस फटकार पर ड्राइवर साहब तो जैसे भीगी बिल्ली बन गए और उनकी अवसरोपार्जित बकवाद-कलाएँ ! वक्तृत्वकला—पर नीति का ताला लग गया। शत्रुघ्नजी के स्पष्ट तथा व्यावहारिक क्रोध का स्टेशन-मास्टर पर भी प्रभाव पड़ा। उसने अपने धृष्ट तरीक़े को ज़रा बदल कर भलेमानुषों के व्यावहारिक ढँग से कहा, "Well," if really you are Rai Sahib's son-in-law and a respectable Vakil of Arrah, I will charge you only single fare and no penalty"

"Right, thank you," शत्रुघ्नजी ने गौरव के ढँग पर उत्तर दिया और तब, जैसे पैसों के लिए, भीतर की जेब में हाथ डालने को हुए फिर तत्काल ही—"But, no, I'll first celebrate your goodness with a smoke with you," कहते हुए उस हाथ को नीचे की जेब में ले गए ! तभी—"एँ ! What is it ?"—और सिगरेट-पेटी के साथ-साथ एक टिकट निकाल कर उसे देखते हुए-"Strange ! All the same, it's nice. I can dispel your suspicioons now, Station

Master Sahib, And have the smoke, nevertheless."

स्टेशन-मास्टर ने भौचक्का होकर, संदिग्ध दृष्टि से टिकट को उलट-पुलट कर देखा और सिगरेट की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। शर्माजी ने, और मैंने भी यथाशक्ति, सानन्द आश्चर्य का अभिनय किया। फिर स्टेशन-मास्टर ने ड्राइवर साहब की ओर विशेष अर्थ-भरी दृष्टि से देख कर अर्ज़ किया "और आपका टिकट, मिस्टर ड्राइवर साहब?"

शर्माजी ने उत्तर दिया, "I-if—अगर आप कहते हैं कि मैं भी इसी ट्रेन से आया हूँ then मेरे टिकट के लिए तो अपने टिकट-कलक्टर से पूछिए। वरना मैं तो—I have came with Rai Sahib. You go and ask him Come, and-यह लीजिए सबूत भी-उन्होंने" प्लैटफ़ार्म-टिकट निकाल कर मेज़ पर इस तरह डाल दिया जैसे शरीफ़ गर्ज़मन्द किसी कमीने कमज़र्फ़ अफ़सर के सामने रिशवत का नोट फेंकता हो।

फिर मुझे भी उस मंडली में गिने जाने का सौभाग्य मिला। स्टेशन-मास्टर की मेरे ऊपर सन्देह-दृष्टि पड़ी। मैंने धड़कते हृदय से, काँपते हाथ से, अपना प्लैटफार्म-टिकट दिखाया। स्टेशन-मास्टर के चेहरे पर बेबसी, सन्देह और कुढ़न की वेदना स्पष्ट थी। परन्तु आदमी वह ज़रूर नेक था। ज्यादा तकलीफ़ न उठा कर उसने केवल इतना ही कहा—"आप लोग सब कालेज के आवारा स्टूडेन्टस हैं।

मैं स्टूडेन्ट्स को खूब जानता हूँ। मेरा विचार कुछ बदल जाए इससे पहले ही आप स्टेशन के बाहर हो जाइए।"

ड्राइवरजी तो तपाक के एक सलाम के साथ "Thank you, Sir Station Mister Saa aab" कह कर घूमने को हुए; पर नया रँगरूट अब शेर हो गया, मानों उसने ही सारा मैदान मारा हो। आख़िर वह अंग्रेज़ी में एम० ए० का तालिब था और अपनी हैसियत रखना चाहता था। उसके पास मुँहतोड़ अंग्रेज़ी भाषण का ज़रिया था। एम० ए० के विद्यार्थी तो सेनापति भी थे, पर इनके पास अँग्रेज़ी के बजाय मैथेमैटिक्स ही रह गई। मुझ से तो ग़लत हिन्दुस्तानी कोई बुलवा लेता। पर क्या करूँ, उन दिनों लोग हिन्दुस्तानी जानते ही न थे।

मतलब यह कि अंग्रेज़ी बोल-बोल कर और शर्माजी के तपाकदार संवर्धनों से बल पाकर परास्त शत्रु के विजेता नए रँगरूट ने अन्ततः स्टेशन-मास्टर को विश्वास दिला दिया कि हम सब किसी-न किसी के दामाद या बहनोई थे। इसमें अविश्वास की बात भी क्या थी? आख़िर स्टेशन मास्टर साहब भी तो किसी के साले या ससुर होंगे—क्या तअज्जुब किसी राय साहब या राय बहादुर के ही हों, या, ईश्वर करे, भविष्य में हो जाएँ। और उपसंहार में—स्टेशन-मास्टर का व्यवहार बड़ा अच्छा था और शत्रुघ्नजी को उनकी मैत्री अपेक्षित थी, क्योंकि सूटकेस और बे-टिकट होलडाल का पता भी लगाना था। इधर, राय साहब भी बड़े सज्जन आदमी थे और स्टेशन-मास्टर को उनसे मिल कर आनन्द

होता। सो, स्टेशन-मास्टर को राय साहब ग़रीबघनजी के यहाँ अगले रोज़ शाम को शत्रुघ्नजी का भोज-निमन्त्रण, शरमा-शरमी, स्वीकार करना ही पड़ गया।

स्टेशन के बाहर आने पर शत्रुघ्नजी की दुर्गति तो होनी ही थी। शर्माजी ने उन्हें खूब आड़े-हाथ लिया। मैं गठरी के बारे में पूछने को उत्सुक हो रहा था। सब कुछ हो-हवा चुकने पर, मैंने अपने को शाबाशी दी—"अब कहो, मेरे निकट—और उस गठरी—का यदि हमारा साथ न होता तो आज हम सबको स्टेशन मास्टर का ही अतिथि बन कर रहना पड़ता न।" गठरी ने सूटकेस की माया धारण कर शत्रुघ्नजी की माया-रूप राय साहब के दामाद की मर्यादा क़ायम रखने में सहायता दी थी। वह यदि न छिपी होती तो कौन किसका दामाद या ससुर बनता?

गठरी खो गई थी। शत्रुघ्नजी निकल भागने की उतावली में उसे लाठी-सहित बर्थ के नीचे ही भूल आए थे। चलो, अब वापिसी में किसी चीज़ को बर्थ के नीचे रखने की समस्या नहीं सुलझानी पड़ेगी, और न अब स्टेशन से यूनिवर्सिटी तक पैदल जाते समय गठरी की पालकी में बार बार कन्धा बदलने की दिक़्क़त ही उठानी पड़ेगी।

पर गठरी तो खो चुकी थी। रात के उस वक्त गठरी खोकर, किसी के यहा खाली हाथ पहुँच कर, हमें अपने को 'शरीफ़' कहलाने में कुछ संकोच होता। उदाहरण के लिए समझिए कि धर्मशाला का प्रबन्धक भी यदि स्टेशन-मास्टर की ही बिरादरी का निकल पड़ा तो एक ही रात में

दो दो आदमियों को राय साहब के प्रीतिभोज के लिए आमंत्रित करना राय साहब के साथ अन्याय करना होगा। परन्तु मुसाफ़िर खाने में एक भी बेंच खाली नहीं थी। और गठरी भी खो गई थी। नहीं तो उसके ज़रिये मुसाफिर-खाने के गन्दे फ़र्श की गन्दगी को दूर करके रात के शेष कुछ घंटे वहाँ निकाल देते।

इसी समय आसमान से टप्-टप् बूँदें गिरीं और बादल की गरज सुनाई दी। तब यह मालूम हुआ कि आसमान में मौसमे-वर्षा में बादल भी हो जाया करते हैं जो कभी-कभी बरसने भी लगते हैं। हम लोग शायद समझ रहे थे कि भूमंडल या स्टेशन-मंडल के प्रकाश से स्वर्ग भी प्रकाशमान् बन जाता होगा, हालाँकि शत्रुघनजी को स्टेशन के प्रकाश का अनुभव अच्छा न था।

तब तो सिपहसालार ने कहा "अच्छा तो आओ, उस बेन्च पर ही जगह निकालें। शत्रुघ्न, तुम्हें मुझ से लड़ना होगा।"

मुसाफ़िरखाने की टीन में घुसते ही उन दोनों में वैमनस्य पैदा हो गया और वे ज़ोर ज़ोर से बोलने लगे। बहाना ढूँढने में कठिनाई न हुई। उस रोज गठरी ने खोई जाकर हम लोगों की बड़ी-बड़ी सेवाएँ की थीं। हुज्जतबाज़ी के स्वाभाविक क्रम से कहीं अटक कर, कहीं आवेश से दो-चार क़दम आगे बढ़ कर, हम लोग बेञ्च के पास पहुँच गए। यहाँ शत्रुघनजी और शर्माजी का मेघगर्जन बहुत आवेश

उठा ! बीच-बिचाव करने की मेरी तमाम चेष्टाओं का कोई फल न हुआ। नौबत यहाँ तक आगई कि दोनों में कुश्तम-कुश्ता मच गई। बेन्च पर सोए हुए दो व्यक्ति एकाध बार बेकार विरोध करने के बाद अब एकदम उठ बैठे और विकट तर्जना के स्वर में उन्होंने हमें एक डाट पिलादी। शर्माजी झटपट उनके पास बैठ कर अपना फ़ैसला कराने लगे। हम दोनों भी उतनी ही फुर्ती से बेन्च पर बैठ गए। शर्माजी ने बड़ी गंभीरता से कहा, "देखिए, पंडितजी !—" (शर्माजी के बराबरवाले सज्जन ने बिगड़ कर कहा, "मैं पंडज्जी नहीं हूँ")— "अच्छा, मुन्शीजी, मुझ में और राय साहब के इन दामाद में मज़ाक़-मज़ाक़ में बहस हो गई कि यदि आप किसी तरह जाग सकें तो हम में से कौन पहले इस बेन्च पर बैठेगा"। मुंशीजी कुटिलता से देखने लगे, परन्तु शर्माजी तो उधर ध्यान न देकर और भी शरीफ़ाना ढँग से कहने लगे—"पर अब तो आप लोगों की समझदारी से हम लोगों का कोई विवाद ही नहीं है। आप आराम कीजिए।"

मुन्शीजी के मात्सर्य में इतना ही जवाब था, "आप लोग गुन्डे हैं। ज़रूर आप किसी कालेज के बिगड़े हुए छोकरे हैं।"

शत्रुघ्नजी ने फ़र्माया, "अजी बिगड़े हुए गुन्डे न होते तो मुसाफ़िरखाने में क्यों आते ?"

साथ ही साथ शर्माजी ने भी कहा, "आप बिल्कुल ठीक

फ़र्माते हैं, मुन्शीजी। यही बात राय साहब भी कहते थे जिनके ये ज़बरदस्ती दामाद बन बैठे हैं।"

"चुप रहो," मुन्शीजी कड़क कर बोले।

उतने ही कड़क कर शर्माजी ने भी कहा, "चुप रहो शत्रुघ्नजी, नहीं तो राय साहब मुन्शी—"

मतलब कि शेष रात या तो इस तरह की छुल्लबुल्लाबी में ही बिताई जासकती थी, या सो कर। सो, भगवान् के करम से ज़रा-सी झपकी लेने का भी अवसर मिल गया। मुन्शीजी ने अक्लमन्दी करके बुरी सोहबत में बैठे रहना ठीक न समझा। दूसरे सज्जन ज़रा भले आदमी थे और उन पर सोहबत का असर कम होता था। वह बेन्च के सिरे पर दबके हुए बैठे रहे।

४

दिन निकलने पर नींद अधिक सताना चाहती थी। परन्तु यह उसकी किन्ही किराए के सिपाहियों से मुठ्भेड़ न थी। "उठो, उठो, शत्रुघन, और तुम भी", शर्माजी के आदेश में मुँह-हाथ धोकर चाय-वाय पीने का सरंजाम दीखता था। पर सामने ही एक काना आगया और शत्रुघनजी को ज़ोर से एक छींक हुई। मैंने फ़ौरन घूम कर देखा कि कहीं स्टेशन—मास्टर साहब या मुन्शीजी तो फिर नहीं आ गए। पर असल बात यह थी कि मुँह—हाथ धोने के बाद हम लोग जब चाय वाय की तलाश में हुए तो चाय तो नहीं मिली, पर एक हलवाई की दूकान पर 'वाय', यानी दूध, दिखाई दिया। और आगे बढ़ कर पहले शत्रुघ्नजी ने

ही जो एक कुल्हड लिया तो उसे मुँह से लगाते ही उन्होंने आँखें लाल-लाल करके झट नाली में फेंक दिया। उन्होंने हिसाब लगा कर बताया कि इस 'दूध' में दूध का औसत सवा दो सेर पानी में तीन पाव का था।

दूधवाले को अपने आधा पाव दूध और डेढ पाव पानी के मूल्य का शायद अधिक मलाल न था, क्योंकि उसने यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी की खोज का कोई प्रतिवाद न किया। उसे क्रोध था सुबह ही सुबह उसकी दूकान के नीचे गोरस का अपमान होने का और इस बात को लेकर उसकी धर्मप्राण आत्मा ने एक खासी फ़जीतेबाज़ी खड़ी करदी। कई आते-जाते भलेमानुषों से लगा कर सड़क पर झाड़ू देनेवाली मेहतरानी तक इस प्रातः-संगीत के कोरस को सुनने के लिए ठिठक गए। और फिर कहीं से दो गलिहारे कुत्ते लपक कर आकर, मगर इन लोगों को देख कर हिचकते झिचकते, मानों वारदात की गवेषणा के लिये, उन कुल्हड के टुकड़ो और नाली में बहती हुई सफ़ेदी को सूँघने लगे। मैंने चुपके से शर्माजी से कहा, "यार, मामला अब संगीन होता जा रहा है। शत्रुघ्नजी ने इस ग़रीब दुग्धजीवी की बोहनी के समय यह मज़हबी कुफ्र क्यों कर डाला? इसलिए अब आधा सेर जलेबी खरीदकर पीछा छुड़ाओ।" मुझे यकीन था कि ताज़ी-ताज़ी मोटी-मोटी गरम-गरम जलेबियों से शत्रुघ्नजी का रँगरूटी जोश ज़रूर ठंढा पड़ जाएगा। मुझ में तो जोश था ही नहीं, और जलेबी-दर्शन कर उसने दो बरस और आगे के लिए भी छुट्टी माँग

नायक शर्मा की समझदारी ने मेरी बात मान कर झगड़ा मिटाया। हाँ जलेबियाँ आधा सेर के बजाय सेर भर खरीदनी पड़ीं और हलवाई ने तराजू तब उठाया जब उसे पहले पैसे मिल गए। कहीं ढँग की जगह बैठ कर जलेबियों का सत्कार आरम्भ करने के पहले मैंने कहा, "भई, देखो। वर्ष के नीचे गठरी छोड़ कर, और दुकान के नीचे दूध, शत्रुघ्नजी ने दो-दो बार हमें मुसीबत में डाला है। और मैंने वहाँ टिकट खरीदवा कर, और यहाँ जलेबियाँ, दो-दो संकटों से तुम्हारी रक्षा की है। सो, मेरा एक प्रस्ताव है।"

शर्माजी और शत्रुघ्नजी हँस कर बोले, "वह भी कह डालो।"

"हाँ तो—इनमें से पाव भर जलेबियाँ मुझे खाने के लिए अभी दे डालो। और पाव भर मैं टाँडा-फॉल पर खाऊँगा जिन्हें शर्माजी संभाल कर ले चलें। शत्रुघ्न को जलेबी देनी तो पड़ेगी ही—अपना साथी है—परन्तु वे इये यूनिवर्सिटी वापिस पहुँचने पर दी जाएँ। बाकी पाव भर के बारे में सेनापति को अधिकार है—वे जो मुनासिब समझें सो करें।"

५

अधिक समय नष्ट करने का काम नहीं था। टाँडा-फॉल मिर्जापुर से सात-आठ मील है, और आगे जाकर पहाड़ पर चढ़ना होता है। चाय की तलब अलबत्ता लगती थी सो शायद चाय भी मिल ही गई होगी। याद नहीं।

हमारी यह टाँडा-यात्रा मिर्जापुर की यात्रा की अपेक्षा बड़ी अच्छी रही, कारण—न तो हमें टिकट ही खरीदना था और

न रास्ते में किसी दूधवाले की दूकान ही पड़ी। इक्के-ताँगों पर तो-साठ-आठ मील की तो बात ही क्या है, सौ मील की यात्रा हो तो भी—जवान आदमी बैठते नहीं। तबियत हो तो याद करके देख लीजिए—क्या यूनिवर्सिटी से स्टेशन तक हम लोग ताँगे पर आए थे; और क्या मिर्जापुरी ओवरब्रिज के नीचे आधा घंटे तक मैं ताँगे पर टहलता रहा था। अस्तु. इधर उधर देखते हुए, कुछ मस्ती से, कुछ खिलवाड़ से, हम लोग बारह-एक बजे टाँडा-फॉल पहुँच गए।

वहाँ डाक-बंगले पर, मालूम हुआ, कोई अँग्रेजी परिवार ठहरा हुआ है। मैंने कहा, "शत्रुघ्न, अँग्रेजी बोलने का मैदान है। एक निमन्त्रण राय साहब के यहाँ का इसे भी अगर दे देते—"

इसी समय बँगले में से एक युवक अँग्रेज निकला और बँगले के सामने हम लोगों को कुछ मौज से खड़े देख कर पास आते-आते कहने लगा, "Come on a picnic, I hope, gentlemen ?"

"Yes Sir, thank you Sir, good morning Sir," शर्माजी ने जवाब दिया। उधर शत्रुघ्नजी के मन में शायद हो रहा था कि यह आदमी कोई स्टेशन-मास्टर तो न है कहीं।

"Oh, good morning It's a pleasant place, is it ? We came here last evening

and will leave to-morrow. We are on our honeymoon."

"Beg your pardon, Sir !" मैंने हिन्दुस्तानी ढँग में कहा।

"Honeymoon. I hope you had your honeymoon".

मैंने चुपके से शर्मा से पूछा—"हनीमून क्या होता है ?," मगर गोरे चमड़े से बोलने की सुविधा होने पर कारे से कौन बोलता है ! शर्मा ने मेरी ओर ध्यान न देकर अङ्गरेज को उत्तर दिया, "This man (शत्रुघ्नजी की ओर इशारा करके) had Sir. He is Rai Sahib's son-in-law, you know."

अङ्गरेज ने आँखें खोल कर दामाद साहब की ओर देखते हुए कहा, "Oh, Isn't it really a big thing ? Does your father-in-law live in Mirzapur ?"

औसान खोकर पुनः होश मे आने का शत्रुघ्नजी के लिए इस यात्रा में स्टेशनमास्टर—वाले प्रसंग के बाद यह दूसरा मौका था। सो होश में आकर उन्होंने तत्परता से उत्तर दिया, ' Yes Sir. Rai Sahib is celebrating his daughter's birthday today. I have come to join the occasion with my friends. I am free to invite my friends

and, if you be pleased, your presence and that of Mrs,—your wife's, I mean—at the dinner this evening will add greatly to our happiness." और मानों इसी में मेरी शुरू की बात का भी जवाब देते हुए, उन्होंने विजय की दृष्टि से एक नज़र मेरी ओर देख लिया।

अङ्गरेज ने कहा, "It's very nice of you indeed, to invite us. But, I am afraid we shall have to remain deprived of the pleasure. We are sleeping on he hill tonight."

"And you are on your honeymoon. Of course, I can not press hard. Ah ! how I wish you could be our Vice-Chancellor !"

"Vice-Chancellor!"

"Yes. We are University students"—(शायद शत्रुघ्नजी ने सोचा कि वाइस-चांसलरी की योग्यता रखनेवाले व्यक्ति के सामने वकालत की छीछालेदर कराना उचित नहीं)—"And you are a nice and friendly gentleman. Couldn't you give me a graduate's degree ?"

"Could I, if you failed at the B. A. Examination?"

गम्भीर होकर शत्रुघ्नजी ने कहा, "Oh no, I have passed the B. A. Examination already and have qualified myself for the degree at the coming convocation. I would not wish you to be dishonest for my sake."

"What difference does it make then between one Vice-Chancellor and another for you?"

"Only, Sir, you could hand me over the degree with a nod and a smile."

अङ्गरेज बड़े ज़ोर से हँसा और बोला, "You are jolly young men and I am glad to have met you Well, take the nod and the smile from me just now and the degree from your Vice-Chancellor at the convocation." और उसके तर्ज़ में कुछ विदा लेने की सी सूचना दिखाई दी। मैंने इसे समझा, या फिर शर्माजी ने, और शत्रुघ्नजी पुनः कुछ न बोल उठें, इससे उन्होंने झटपट कहा, "Thank you. Sir, thank you. We have wasted much of your honeymoon— or honeysun-- time. Shall we say good- bye, now?"

"If you please, good-bye", फिर लौटते लौटते "I look very much to meeting you by some happy chance again. It has been such a tremendous pleasure. Good-bye"

हम लोगों ने टाँगा नदी की ओर रुख किया और दृश्य की शोभा निरखने से पहले एक बार शत्रुघ्नजी को झिड़क दिया-"बड़ा भारी अँग्रेजी बोलने का शौक है। कुछ-न-कुछ बक देना चाहिये ! अब दुत्कार दिए गए न ! अँग्रेजी बोलनेवाले हिन्दुस्तानियों की इसी तरह शान किरकिरी होती है ... .." पर शत्रुघ्नजी न समझ सके कि उनसे क्या अपराध हुआ है।

'समझोगे कैसे? अँग्रेजी के एम०ए० जो हो। अरे तुम्हें क्या पड़ी थी उससे यह कहने की कि हम लोग स्टूडेन्ट्स हैं। तभी से उसका भाव बदल गया। मैं शर्त लगा सकता हूँ कि उसे गाय साहब पर भी गुस्सा आया होगा कि उन्होंने अपनी लड़की की शादी किसी अँग्रेज से न करके इस तरह के हिन्दुस्तानी छोकरे से क्यों की, जो पाजामा पहन कर अँग्रेजी बोलता है .... आखिर हिन्दुस्तानी यूनिवर्सिटी का ही छोकरा जो ठहरा ......अब बच्चू, जब यह हजरत तुम्हारे वाइस-चान्सलर बन कर आएँगे तो बी०ए० की डिग्री देना तो दूर —उलटा तुम्हें धमकाएँगे कि अँग्रेजी बोलते समय पाजामे के ऊपर हाफ-पैंट ज़रूर पहन लिया करो।"

आखिर हम ही दोनों शत्रुघ्नजी के इतना अधिक पीछे क्यों पड़े हुए थे? देखो, टौंडा नदी और उसका प्रपात तो उसी प्रकार उनका भी स्वागत कर रहा है जिस प्रकार कि हम दोनों का। प्रकृति के इस सन्देश को हमने सुना भले ही न हो, पर उसके प्रभाव से हम वंचित न रह सके। दृश्यदर्शन में समभाव से प्रेरित होकर हमने दो-चार मिनट खड़े रह कर मानों अपनी श्रद्धामय कौतुकाञ्जलि अर्पित की।

टौंडा का प्रपात कोई बहुत ऊँचा प्रपात नहीं है। पहाड़ी के ऊपर यहाँ समतल भूमि है जो बीच में एक लम्बे-चौड़े परन्तु अनतिगम्भीर गह्वर से द्विधा विभक्त है। पर उस गह्वर में बड़े-बड़े और ऊँचे पत्थर इस प्रकार प्राकृतिक ढँग से बीच में जड़े हुए हैं कि उनपर से सरलतापूर्वक दूसरी ओर के समतल पर पहुँचा जा सकता है। दूसरी ओर के समतल पर टौंडा नदी धीरे-धीरे प्रलम्बित गति से आगे बढ़ती आरही है—या, कहना उचित होगा कि वहाँ स्थिर है। उसकी इस शान्त और सन्तुलित मनोवृत्ति का ही यह परिणाम है कि वह गह्वर के किनारे आकर नीचे गिर नहीं पड़ती, बल्कि सँभली हुई सी, बड़ी गौरवशालिता के साथ उतरती है। और उतर कर अपना मार्ग ढूँढ, ऊँचे पत्थरों की बाधा से जैसे बचती-बचाती हुई, एक ओर को प्रवर्तित हो जाती है। हमारा अँग्रेजी का एम० ए० क्यों नहीं इस प्रकार का आचरण सीख पाता, इस पर नायक शर्मा ने शायद विचार किया हो।

उतरने और बच बचा कर लेफ्ट-टर्न की क्रिया में वह

अँग्रेज़ी नहीं बोलती थी। वह तो सीधी-सादी हिन्दुस्तानी ही बोलती थी जिसे उस समय तक या तो मैं जानता था या टौंस नदी जानती थी। उसकी भाषा में दूसरों पर रौब डालने के उद्देश्य से दूर तक सुनाई देनेवाले विस्फोट और आस्फोट नहीं थे। इसके विपरीत उसकी ज़ुबाँदराज़ी आपसी लहरों की छोटी-मोटी कुश्ती तक ही सीमित थी जो शत्रुघ्नजी जैसे उत्पातियों, शर्मा और मुझ जैसे तालीबाजों और 'हनीमूनी' अँग्रेजों के लिए घोर आनन्द की वस्तु थी। इस बात को सोच कर ऐसा लगता है गोया कि मेरे भाइयों की हिन्दुस्तानी प्रवृत्तियों से मज़ा लूटनेवाले जो कोई भी परदेसी हिन्दुस्तानी के इस द्वन्द्वस्थल में आते होंगे उनका मक़सद ज़रूर उत्पात, तालीबाज़ी या 'हनीमून' ही रहता होगा।

टौंस का प्रवाह हमें गदला दिखाई दिया जो शायद आकाश के काले बादलों के कारण रहा होगा। शायद वह नदी के हिन्दुस्तानी-प्रेम के कारण भी रहा हो; क्योंकि मुझे मालूम है कि हिन्दुस्तानी का बोलनेवाला मैं भावों और विचारों में कभी पूर्ण रूप से विशद और अनाविल नहीं रह पाता।

सारे दृश्य का अनुमोदन कर अब इरादा हुआ कि नहा लें। प्रस्तरिल पाद पीठों को काम में लेकर हम लोग गह्वर के उस पार पहुँचे। पी० डब्ल्यू० डी०, के सर्वेयरों की भाँति नदी की जाँच-पड़ताल के लिए किनारे पर खड़े होकर देखा। शर्माजी गणित के फ़र्स्ट-क्लास अभिशेषज्ञ थे। उन्होंने इस बात पर पर्दा डाल कर कि वह पहले भी कभी वहाँ

आए होंगे, हमें बतलाना चाहा कि नदी यहाँ अधिक गहरी नहीं है। मैं कहने को हुआ कि स्केल से जाँचलो। पर स्केल तो शत्रुघ्नजी की कृपा से गठरी के साथ रफूचक्कर हो चुका था। या शत्रुघ्नजी की ही क्यों, हम सभी की कृपा से, क्योंकि स्केल और गठरी का गँठजोड़ वेदत्रयी से भी पवित्र इन्हीं ब्राह्मणत्रयी ने तो कराया था। ब्राह्मणत्रयी ! ओह ! मैंने छूटते ही कहा, "मैं तो नहीं नहाऊँगा।"

'क्यों, क्या है ?"

"क्यों, क्या है ! तुममें से किसी ने इस बात पर भी ध्यान दिया कि हम लोग तीन ब्राह्मण एक साथ चले थे ?" मैंने कहा।

"सो ? अब तीन ब्राह्मण एक साथ वापिस चले चलेंगे।"

"चले ही चलें तो अच्छा है। मेरी राय में अभी चले चलो।"

"अभी चलो।" और शत्रुघ्नजी ने ज़रा सी ठेस मुझे दी कि मैं पानी में।

कितनी बेहूदा बात थी अनजाने पानी में इस तरह ढकेलना। पर ग़नीमत यह थी कि ठेस देनेवाला एक ही ब्राह्मण था, तीन ब्राह्मण नहीं। सो, मेरे पैर नदीतल पर टिक गए। और, शर्माजी की इस समय की क्या तारीफ करूँ। "मुखिया मुख सो चाहिए" आदि सुना है ? शर्माजी ने शत्रुघ्नजी को एक वैसी ही ठेस देते हुए कहा, "तुम भी

तो !" मैंने ताली पीटते-पीटते अपनी कृतज्ञता प्रकट की-"वाह शर्मा, आफ़रीं ! शत्रुघ्न यार, हर जगह साथ अच्छा होता है। और तू भूल गया—तीन ब्राह्मणों में तू ही सब से पहला है !'

शत्रुघ्नजी खिसियाने होकर बोले, "लेकिन यह ही कैसे बचा रह सकता है ! I'll just get him." मैंने रोका, 'देखो देखो, यहाँ अङ्गरेजी मत बोलो, रायबहादुर— " मगर उनका तो इतना ही अङ्गरेज़ी बोलना काफ़ी हो गया। नदी का किनारा पकड़ कर बाहर निकलने को जैसे ही वह उछले कि उनके एक पैर का थर्मोज़ चप्पल पानी में निकल गया। सारा जोश ठंडा हो गया।

शर्माजी तो दो मिनट में खुद ही आगए। कपड़े उतार कर और अपनी बनियान का लँगोट बना कर वह उतर आए। मैंने भी एक बार बाहर निकल कर, शर्माजी के पैटर्न का लंगोट पहन, और कुर्ता धोती तथा चप्पल को सूखने के लिए छोड़, पुनः पानी में प्रवेश किया। लेकिन शत्रुघ्नजी को हम दोनों ने न निकलने दिया; उनका कोट आदि सभी कुछ हरा भरा, सर-सब्ज़-ओ-तरो-ताज़ा कर दिया गया। शत्रुघ्नजी के लिए इस स्नान में मजा न आने के कई कारण थे—पर हमें तो मज़ा आ रहा था।

नहाने में अजीब-ओ-ग़रीब लुत्फ़ आ रहा था, जिसका, मैं मानता हूँ, बहुत-सा श्रेय शत्रुघ्नजी को था। कहीं से एक बहका हुआ बादल का टुकड़ा आकर हमको शॉवर-बाथ भी

कराने लगा। और मैं कहूँगा कि गणित के फर्स्ट-क्लास एम० ए०-ओं को सर्वेयरी के पेशे में जितनी कामयाबी मिल सकती है उतनी किसी गणित की प्रोफ़ेसरी में भी नहीं। क्योंकि शर्माजी ने ठीक कहा था कि नदी का पानी कमर से ऊँचा कहीं भी नहीं है। अपने आगामी जीवन में शर्माजी ने गणित की प्रोफ़ेसरी में सचमुच असफल हो कर हिन्दुस्तानी अङ्गरेज़ी में व्याख्यान देने का अभ्यास बढाया और एक मिडिल स्कूल की सेकंड-मास्टरी कर पार्टीबन्दी के दो-चार हथकड़े सीख डाले। पार्टीबन्दी में भी क्या सर्वेयरी से किसी भिन्न गणित की ज़रूरत पड़ती है? अपने स्वार्थ की मापक रज्जु बनाकर उस में भी यही देखना होता है कि कौन कितने पानी में है। इसी पार्टीबन्ध सेकन्ड-मास्टरी में शर्माजी को यह भी सुअवसर मिला कि इन्सपेक्टरों की कारों का दरवाज़ा खोल-खोल कर उन्होंने अपने लिए "अति सफल नालायक" की दुर्लभ उपाधि को हासिल कर लिया। और यहाँ भी, पानी में आने पर, जहाँ शत्रुघ्नजी ने उन्हें 'नालायक' कह कर पुकारा वहीं मेरे मन में उनके 'अति सफल' होने की भावना दृढ़ीभूत हो गई।

अच्छी तरह नहा-धो चुकने के बाद जब हम निकल कर कपड़े पहनने लगे तो शत्रुघ्नजी को नागवार हुआ। हमने उन्हें काफ़ी अच्छी तरह विश्वास दिलाना चाहा कि हमारे इक़बाल और नदी की शराफ़त ने उन्हें स्वतंत्रता-पूर्वक नहाते रहने का अधिकार दिया गया, मगर उनका एतराज़ था कि उनके कपड़े भींगे हुए हैं। उस अँग्रेजी

धोलनेवाले को यह बुद्धि न हुई कि एक बार भीगे हुए कपड़े अधिक देर तक नहाने से और ज़्यादा नहीं भीगते। अलबत्ता दूसरों के कपड़े भिगाए जा सकते हैं। यही तो उसने भी करना चाहा। हमने उसे समझदारी सिखाई—"अपने कपड़े सुखा डालो। शाम होने आई। वापिस नहीं चलना है?"

शत्रुघ्नजी एकदम ही अक्ल के पीछे डंडा लिए फिरते हों, ऐसी तो मेरी राय कभी नहीं हुई। राय साहब का दामाद बन बैठने और स्टेशन–मास्टर तथा मुन्शीजी पर विजय प्राप्त करने में क्या उन्होंने अपनी अक्ल का इज़हार नहीं किया था। सो वस्तुस्थिति को समझ उन्होंने मुझ सीधे हिन्दुस्तानी की धोती का उपयोग कर अपने कोट-पाजामे आदि को अच्छी तरह निचोड़-निचोड़ कर सूखने के लिए फैला दिया और हम लोग एक पत्थर पर बैठ कर वापिस लौटने का प्रोग्राम सोचने लगे। मैंने कहा, "भई, और सब बातें, जो चाहो, सोचो। पर मेरी सख्त राय यह है कि हम लोग मिर्ज़ापुर से रेल से वापिस चलें और मेरा टिकट जरूर खरीदा जाए।" अरे! टिकट की याद ने तो शत्रुघ्नजी के लिए नीचे दबी हुई एक कमानी का सा काम किया। वह उछल कर अपने कोट के पास गए और जेब टटोलने लगे। देखा तो पाँच रुपये का नोट भीग-भीग कर और निचुड़-निचुड़ कर खंडशः हो गया था। "जो यह किया तुम लोगों की बदमाशी ने मेरे साथ!" शत्रुघ्नजी ने हार्दिक वेदना की क्रोध-भरी शिकायत में कहा। वाकई, यह मज़ाक का प्रसंग नहीं था। हम दोनों सन्न रह

"गए।"शर्माजी ने शत्रुघ्न से कोट निचुड़वा कर यह किया," मेरे मुँह से दबी हँसी के साथ निकला, जिस पर शत्रुघ्न ने डाट कर कहा "Shut up!" 'नहीं नहीं अंग्रेजी नहीं, अंग्रेजी नहीं। मैं डर जाऊँगा। हिन्दुस्तानी बोलो कि मैं और शर्मा दोनो समझ सकें।" मैं ने भय के भाव में निवेदन किया।

"तूने, शर्मा मुझे with coat पानी में ढकेला। ये पाँच रुपये में तुझ से लूँगा।" दलील पक्की थी। और, मैं तो किस मुँह से शिकायत करता? अँग्रेजी बोलने वालों की दृष्टि में धोती और कुर्ता तो भीगते ही नहीं हैं और यदि वह भीगने की गलती कर भी जाएँ तो उनकी पोशाक मे गिनती नहीं होती। पर, वैसे भी, मुझे शिकायत करना उचित नहीं था। मैंने जो शत्रुघ्नजी की भाँति उछल कर देखा तो पता लगा कि कुर्ते की जेब में मेरे सब ग्यारह आने पैसे रूमाल में बँधे होने के कारण गले नहीं थे,

कोट की जेब मेरे पास न होने के कारण मैंने अपना पाँच रुपये का नोट शर्माजी के हवाले कर रक्खा था। मुझे तो, सच बात है, अपनी हिन्दुस्तानी अदाओं पर घमंड बढ़ता ही जाता था और, सच बात है कि, इसलिए मैं शत्रुघ्नजी की सही मिज़ाजपुर्सी न कर सका।

शर्माजी भी नहीं कर सके। वह नायक थे और नीतिज्ञ थे। नीतिज्ञता और मैत्री की दुश्मनी है। उन्होंने शत्रुघ्नजी को झिड़कते हुए ललकारा "पर अब इस नोट को ही भींखता रहेगा क्या ? मालूम है शाम होते ही यहाँ बघेरों का डर हो जाता है ? और अभी बाँध भी देखना है।"

"यह अत्याचार है, सेनापति," मेरे मुँह से निकल पड़ा "बेचारे के पहले तो चप्पल की लगी और अब यह पाँच रुपये का जूता पड़ा। क्या तुम्हें ज़रा भी दया नहीं ?"

"मैं, हिन्दुस्तानी के बच्चे, तेरा गला घोंट

दूँगा। शत्रुघ्नजी दाँत पीसते हुए मुझसे बोले।

"यार, गला मत घोटो। पाँच रुपये और जूता तुम्हें किसी से दिलवा देंगे। पर अब चलो सच!"

५

वहाँ पहाड़ों के समतल पर कुछ दूर चल कर टाँडा नदी को बाँध दिया गया है। इसको देखना भी आवश्यक था। उसकी देख-रेख और प्रबन्ध के लिए वहाँ क्षुद्र भृत्यों (menial staff) संख्या रहती है, जिनके लिए छोटी छोटी इमारतें-कोठरियाँ आदि-बनी हुई हैं। लगभग बीस वर्ष पुराने अनुभव को याद करते समय मेरे इस वर्णन में कुछ त्रुटि या अशुद्धि हो सकती है। परन्तु मानसिक संस्कार की वस्तुता को इन छोटी बातों की अशुद्धि से शायद कोई बाधा नहीं पहुँच रही है, यह सोचकर मैं कोठरियां

या इमारतों की चिन्ता नहीं करता। यह मुझे अच्छी तरह याद है कि बाँध के इधर के सिरे पर—दूसरा सिरा तो दीखता ही न था—एक ऊँचा-सा छोटा चबूतरा छत से ढका हुआ था जिस पर खड़े होकर हमने उस समुद्र के दर्शन किए। हाँ समुद्र के ही, क्योंकि मैंने उस समय तक समुद्र नहीं देखा था और मेरी उस समय की सामुद्रिक कल्पना को सामने का जलभार निकटतम रूप से प्राप्त हो रहा था। और, नदी का यह रूप कैसा शान्त गम्भीर था, जैसे शायद मनुष्य क्षुद्रताओं को त्यागकर विशाल, गम्भीर और शान्त हो जाता है। या शायद, जैसे कोई स्वतंत्रता की उपासक महाशक्ति अपनी ही किसी दुर्बलता या मोहनी के कारण बलात् बन्धन में पड़ कर बाध्यता से निश्चेष्ट शान्ति का अपने ऊपर आरोप कर लेती है।

मानव स्वार्थ के सामने प्रकृति की इस बेबसी पर मुझे खेद हुआ। फिर मानव स्वार्थ के सामने स्वयं मानव तो चीज ही क्या है। इस बेबसी की चिन्ता में मुझे स्टेशन-मास्टर और शत्रुघ्नजी के युद्ध में शत्रुघ्नजी की बेबसी का ध्यान हो आया। कौतूहल, भय और श्रद्धा आदि की प्रेरणा से आँखे फाड़ कर मैं तो जैसे क्षण भर को प्रकृति-मानव-संग्राम के इस दृश्यमान परिणाम की भावना में तन्मय हो गया। पर इस तन्मयता में भी मैं अपने को शत्रुघ्नजी से दो कोस दूर रखने की आवश्यकता को न भूल सका। शत्रुघ्न को तो शर्मा का डर था नहीं। जेब में यदि पाँच रुपये का एक ही नोट हो तो वह दो दो बार थोड़े ही भीगता है। और बर्मीज चप्पल को तो शायद शत्रुघ्नजी किसी मजबूरी में पन कर वैसे ही बहा देना चाहते होंगे। तब वह क्यों डरते ?

बरसात में और ऊँचाई के खुले मैदान में संध्या कितनी जल्दी होती है, इसका पता हमें तब लगा जब कुछ अन्धकार का सा आभास होने लगा और हमने देखा कि सूर्य क्षितिज के पास पहुँच गया है। अब तो सचमुच सेनापति डरे। बोले, "यार, दिन ढलता हुआ मालूम न हुआ। आमोद-प्रमोद के प्रमाद में अब शेरों का सामना न करना पड़ जाए कहीं ?" बहुत ज्यादा तो नया रँगरूट डरा, और उतना ही मैं भी ! अब क्या किया जाए ? शर्मा ने कहा, "देखो यहाँ के नौकर-चाकर कोई, रात भर अपनी कोठरी में हमें सुलाले तो !" शत्रुघ्नजी बोले, "चल तो, जल्दी चल, न सुलाया तो और देर होगी।" और चलने को होने पर उन्हें कदाचित

ध्यान आया कि अङ्गरेजी बोलनेवाला यदि एक पैर ही में चप्पल पहन कर चलेगा तो नौकरों पर क्या रौब पड़ेगा। जो मजबूरी, मेरे खयाल में, शत्रुघ्नजी चाहते रहे होंगे वह उन्हें उनकी प्रेयसी अङ्गरेजी से मिल गई, और उनका बचा हुआ चप्पल हवा में दूर तक तैरता तैराता अन्ततः बाँध के पानी का संगी बन गया। मगर शत्रुघ्नजी को अपने मुसमुसे कोट और पाजामे की ओर ध्यान क्यों नहीं हुआ?—यदि अङ्गरेजी की इतनी ही खातिर करनी थी तो।

और चाकरों ने भी ताड़ लिया कि हाफ्-पैन्टधारी के दोनों साथी कुछ यों-ही हैं। साथियों की वजह से अर्ध-पतलूनवाले अर्ध-साहब की मर्यादा को जरूर आँच लगी। क्योंकि जब अर्द्ध-साहब ने कहा, "वेल, डेको, हम, शाब राट के लिए इडर शोना मॉंगटा है। टुम लोग हम शाब को एक कोठरा डेने शकटा है?" तो वे आपस में कहने लगे—'ई को ह। एकर गिटपिट बोली क कछुक समुझत ह?" "हमका त किछुइ समुझात नहीं। बाबु साब, मानुसन क बोली माँ बस न बोलात बा?"

एक बात कहना भूल गया हूँ कि गणित-पढ़े सर्वेयरों का सर्वे बड़े स्थूल ढँग का होता है, जो इन्सपेक्टरों—आदि बड़े लोगों का दरवाजा खोलने तथा चाटुवादिता—पिशुनता आदि में ही अपना वैभव देखता है। छोटों के मनोविज्ञान और चरित्र का सर्वे कर वह उन्हें मित्र बनाना नहीं जानता। मैंने जब यह बात देखी तो शर्माजी को जरा पीछे खसका कर स्वयं उन लोगों से कहा, "भाई, बात यह है, यह क्रिश्चान

साहब अभी हमारे रेलवे के छोटे साहब होकर आए हैं। आज टाँडा-फ़ॉल देखने आए थे सो उसी सब में इतनी देर हो गई। मोटर नीचे ही छोड़ दी थी। उस तक पहुँचते-पहुँचते रात हो जाएगी, और यह जंगल है खतरनाक। सो हम लोग चाहते थे कि तुम्हारी दया से रात में यहीं कहीं सो जाते तो अच्छा होता।"

"हाँ त अइसन कहम, बाबुजी। ई रँगरेज बहादुर त न जानी का बकबास करै लाग।"

"भई, इनकी बोली ही ऐसी है। ये हिन्दुस्तानी नहीं जानते।"

"त बाबूजी, हम का करी? हमका त हुआ कोनौ क ठहरावै क हुकुमै नहीं न। नौकरी स खलास हुई जाब जो केहुक ठहराब त।"

"भई, किसी भी तरह ठहरा लो। हम कहीं नहीं कहेंगे और तुम्हे इनाम देंगे।"

"ई त सब ठीक बा। पर चकरिया त कहस गँवाउब? आप त जल्दी स निकस जाब, मुदा रतिया होतै आय।"

शत्रुघ्न के हृदय की धड़कन वाणी के आवेश में निकल पड़ी। उन्होंने लौटने के उपक्रम से कहा "ये बदमाश हैं जी, नहीं ठहराएँगे। Come along,"

तब एक ने खड़े होकर फटकारा "बदमास-बदमास जिन कहम बाबू। ऐस लाट साब हम बहुतन क ठीक का दीन्ह रहा। चला जाव खैर चाहत होय त।"

लो ! सिंह से पहले नरसिंह से भेंट होने लगी। और अगर शत्रुघ्नजी तथा छोटे साहब अपनी टॉमी-हिन्दी और अँग्रेजी के असर में अड़ गए तो मैं झूटमूट में ही पिटूँगा। और फिर, ईश्वर करेगा तो, इन्हें शेर से भी अँग्रेजी और टॉमी-हिन्दी बोलने की ज़रूरत पड़ जाएगी। इसलिए, फ़क़त आत्मरक्षा के ही खयाल से मैंने उस खड़े अक्खड़ की ठोढ़ी में हाथ देकर कहा, "भाई भाई, माफ़ कर। छोटे साहबों के अरदली ऐसे ही बेहूदा हुआ करे हैं। तू क्या जाने नहीं है ? हम तो जारहे हैं" और शत्रुघ्नजी तथा छोटे साहब का हाथ पकड़ मैं उन्हें घुमा ले चला।

लगभग ढाई-तीन मील पहाड़ी जंगली रास्ता उतरना था। हम लोग लपके, दौड़े। कहीं आदम, न आदमज़ाद कहीं ज़रा-सी भी आहट हो तो शेर आता दिखाई दे। मैं दिल से डार्विनजी की आत्मा का आव्हान करके पुकार रहा था कि कहीं से बन्दर के ही दर्शन करा दे, ताकि तसल्ली हो। और वानर-पुंगवकपिकेसरी से मना रहा था कि मेरे साथियों की ज़ुबान थोड़ी देर के लिए कील दे। कहीं ये अपनी वाणी में कानाफूसी भी कर उठे तो शेर ज़रूर आजाएगा।

डार्विन ने तो मेरी सलाह पर ध्यान नहीं दिया, पर संकटमोचन के कानों में भनक पड़ गई। ढलवाव जहाँ खत्म होने को आया वहाँ छोटे साहब ने एक लम्बी साँस लेकर चग जुबान खोली, "रब, अब कोई डर नहीं है। वह

देखो, एक आदमी जा रहा है।" पर मेरा डर अभी दूर नहीं हुआ था। मैंने उन्हें रोकते हुए धीरे से कहा, 'चुप! तुम लोगों की आवाज़ में इन्सान से भी ख़तरा है।"

फिर तो शत्रुघ्नजी भी बोले, और ढलकाव समाप्त होने पर, हम लोगों ने एक पुलिया पर बैठ कर खूब लम्बी-लम्बी साँसें लीं, यानी अपनी-अपनी घबराहट और थकान दूर की। फिर मैं सोचने लगा—"हम लोग कितने नीचे से ऊपर चढ़े थे और अब कितने ऊपर से कितने नीचे आगए। आर्यावर्त और उत्तरावर्त जब एक दूसरे से मिलने के लिए बढ़ते हैं तो कितने ऊँचे होते जाते हैं और जब एक दूसरे से अलग होने लगते हैं तो कितने नीचे आ गिरते हैं। क्या यही बात एक दूसरे से मिलने और अलग होने वाले मनुष्यों की भी है?"

मानवाशय की उच्चैर्गति और अधोगति का यह रूप आपस की चुहलबाज़ी के रूप में अधिक देर तक न दिखाई दे सका। और उधर सिंह से छुटकारा होने के बाद मेरे भीतर बुभुक्षा की सिंहनी गुर्राने लगी थी। फिर, मैं अपने हृदयस्थ खौफ़ को छिपा भी नहीं पाता। सो मैंने शर्माजी को कुहना कर कहा, "टुम लोग हम शाहब को भूकी शेर्नी से बचाने शकटा है? अम दिन भर का भुका आय।" फिर अरदली को ठसका कर बोला, "Come along अब मिस्टर अर्डली।"

कितना समझदार हूँ, या कितना जादूगर हूँ, मैं!

सचमुच उन दोनों को भी उदरारण्य की शेरनी दीखने लगी। और जिस तरह सद्गुरु के ज़रा से इशारे से मूर्ख से मूर्ख शागिद भी बहुत कुछ समझ लेता है उस तरह हमारे टामी-ब्राड, अर्थात् हाफ्रैंिटए, साथी ने यह भी समझ लिया कि मुनासिब समय के भीतर ही किसी धर्मशाला का दरवाजा झाँक लेना चाहिए। वैसे ही हम आवारा से हो रहे थे। अधिक रात में पहुँचने पर धर्मशाला का मुन्तज़िम हम लोगों को पुलिस के हवाले ही कर देगा।

फिर भी, थकान के असर में चलते-चलाते और पेट भरते-भराते, हम लोगों को धर्मशाला पहुँचते-पहुँचते दस से अधिक बज गए। जनाब प्रबन्धक साहब से बात करने का ज़िम्मा मैंने अपने ऊपर लिया। डर था कि ये दोनों तो अपनी अजीब बोलियाँ सुनाने से बाज़ आएँगे नहीं। इन्तज़ाम-कर्ता भी मुझे हिन्दुस्तानी से ही दिखाई देते थे। मैंने उन्हें पूरी हम-बीती सुनाई, अपने को सनक सनन्दन-सनत्कुमार के वंश के ब्रह्मचारी ब्राह्मणकुमार बतलाया, और आशीर्वाद देते हुए आश्रय की भिक्षा माँगी। आखीर में, बुद्धिमानी की एक लहर में यह सोच कर कि कदाचित् प्रबन्धकुन महाशय ब्राह्मण न हों, या ब्राह्मण होने की वजह से ब्राह्मणों से शत्रुता रखते हों, मैंने उन्हें, अपनी कल्पना-शक्ति पर स्वयं बलिहार होते हुए, बतलाया—"और हज़रत महाशय, मिर्ज़ापुर के मुन्शी चित्रबहादुर, लाला कौड़ीमल या ठाकुर ठकुरसिंहजी से आप हमारे बारे में प्रातः-सहर ही शोध-शनाख़्त करा सकते हैं, मगर-परन्तु इस वक़्त, यानी-

अर्थात् इस समय, तो निराश-नाउम्मीद न करें")

न मालूम हमारी दशा पर रहम खाकर, न मालूम यह देख कर कि हमारी सब जातियों से रिश्तेदारी है, न मालूम एक ही साँस में मेरी हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी बोली पर मंत्र-मुग्ध होकर, उन्होंने किसी आनन्द-खुमारी में आत्मविस्मृत होते हुए बग़ैर सोचे-समझे ही कह दिया, "बाबू पण्डिजी, कोठरी तो एक भी ख़ाली नहीं है।"

पर मैं सो इस तरह का प्रभाव पैदा नहीं करना चाहता था। फिर भी यह संतोष था कि मेरी बातचीत इनकी समझ में तो आई। "बात इस तरह कहो कि दूसरा उसे अच्छी तरह समझ ले"—यह पाठ मुझे रचना सिखानेवाले मौलवीजी और पंडित साहब ने एक ही साल, चौथे दरजे में, दो बार सिखलाया था। अपनी काबिलियत पर प्रसन्न होकर मैंने दुगने उत्साह से फिर, और तत्काल—क्योंकि शत्रुघ्नजी और शर्माजी का डर था—कहा, "तो हमें सड़क या मार्ग पर कोई, यानी कोई, शहतूत का पेड़ अथवा वृक्ष ही बतला दीजिए जहाँ रात को हम सुषुप्ति-बनाम खुमारी—"

बेहोशी में ही, शायद उसने मेरा अपमान कर दिया कि मुझे पूरी बात भी न कहने देकर उसने शर्माजी की तरफ देखते हुए—जी हाँ, वही एक भले आदमी से दीखते थे—यह पूछा कि—"आप लोग कौन हैं, और यह महाशय क्या कुछ—"

शर्माजी तो जैसे मौक़ा ताकही रहे थे। झटपट बोल उठे, "जी हाँ, यह इस साल बी० ए० की परीक्षा में हिन्दी और

उर्दू दोनों ही में, और एक साथही, फ़ेल हो गए हैं . तब से इनके दिमाग़ में कुछ हिन्दी-उर्दू की भ्रान्ति सी पैदा हो गई है। मगर वैसे इनका दिमाग़ सही है और हम लोगों की मुसीबत का इन्होंने बिलकुल सही वर्णन किया है। बड़ी ही दया होगी जोर हने की जगह देदेंगे तो। सुबह गंगास्नान करके हम लोग दोपहर की गाड़ी से वापिस चले जाएँगे।"

देखा आपने! मैं अगर ग़लत हिन्दुस्तानी न बोलता तो शर्मा का टॉमी बच्चा ऐसा अच्छा व्याख्यान कैसे दे सकता था? और मैनेजरजी ज़रा मुस्कराए। धर्मसंकट में कहने लगे, "परन्तु क्या करूँ? कोठरी तो कोई खाली नहीं है। आप का सामान खोगया है, नहीं तो बरामदे में ही—"

"बस बस," शर्माजी ने कहा, "आप तो बरामदे में ही सो जाने दीजिए। तीन टूटी-फूटी चारपाई तो दिलवा ही देंगे?—"

"हाँ, यह शायद हो सके, ठेकेदार एक चारपाई का एक आना लेता है।"

मगर ठेकेदार के पास दो ही चारपाई निकलीं। मैं झपट कर एक पर लेट रहा। मैंने कह दिया, "भाई, मैं पूरा टिकट खरीदा करता हूँ। मेरी चारपाई में किसी का हिस्सा नहीं है।" शर्माजी टोप को अपने पलँग के नीचे सजा कर कोटसमेत ही लेट गए। ज़िम्मेदार आदमी थे, कोट में मेरा एक नोट जो रक्खा था। शत्रुघ्नजी उनके बग़लगीर हुए और चन्द मिनट में ही हम लोग ऐसे हो गए गोया कि घोड़े—शत्रुघ्नजी के

चप्पल समझलो—बेच आए हो।

लेकिन एक मिनट भी न सो पाए होंगे—मुझे तो ऐसा ही लगा—कि लोगों की भगदड़ सुनाई दी। उन दिनों सन् '१४ वाली लड़ाई सन् '१८ में हो रही थी और प्रेमचन्दजी का 'सेवासदन' क़ायम हो रहा था। भगदड़ से मेरी आधी आँख ही खुली और मैंने समझा कि दुश्मन आगया और लोग अपनी इस्मत के लिए "सदन" में भाग रहे हैं। अध-खुली आँख की दशा में ही मैं भी बाहर को भागा तो एक कड़क और चमक से समापन्न जलवाणों में जा फँसा और पूरी आँख खोल कर पीछे को भागा। बरामदे में अँधेरे ही था और मैं, पूरी आँखों के खुली होने पर भी, अपना पलँग की तरफ़ न पहुँच शत्रुघ्न-बन्ध शर्मा की खटिया से टकरा कर उन दोनों के ऊपर भड़ाम से गिरा।

क्या खबर मेरे गिरने से, या मेरे मिज़ाज की खैरख्वाही से, वे दोनों हड़बड़ा कर उठ बैठे। मैं उन्हें होश में भी ले आया, और तब तीनों की सलाह से तय हुआ कि ज़ोरों का पानी गिर रहा है।

अब हवा भी गुस्से के साथ चलने लगी थी, मानों पानी की दुश्मन बन कर आई हो। खदेड़ा जाकर पानी पनाह ढूँढने लगा और हमारे ही बरामदे पर उसकी नीयत बिगड़ी, जिसमें दो चारपाइयों की भी मुश्किल से जगह थी। क्या सामने वाला बरामदा न था, जहाँ कोई चारपाई न थी और जिसमें, इसलिए, वरुणदेव को निर्बाध स्थान मिल

सकता था ? मैं बिगड़ खड़ा हुआ—"यह सब इम तीन ब्राह्मणों की करतूत है। शत्रुघ्नजी, तुम निकलो धर्मशाला से, और शर्मा, तू चाहे तो यहीं पड़ा रह। मैं सामनेवाले बरामदे में जाता हूँ। मेरे नोट को सँभाल कर रखना।" यह बात नीति के भी अनुकूल थी। दुश्मन इधर आरहा था तो मुझे उसके पीठ-पीछे, दूसरी तरफ़, जाना ही चाहिए था।

मेरे साथियों ने शायद यह सोचा कि एक शख्स जो अपना टिकट खरीद कर हमेशा हमारी रक्षा करता है कहीं यदि अलग होगया तो वापिसी का रेल-सफ़र कैसे होगा। मैं भागा तो भागा लेकिन वे भी मेरे पीछे भागे।

इस बीच में वायु की फ़ितरत तो देखिए। उसका शत्रु एक तरफ़ पनाह लेने गया तो उसने उसे पीछे को खदेड़ा। मैं वेदों की आयतों और कुरान के मंत्रों में बहुत देर तक भटकता रहा कि किसी तरह तो पवनमियाँ से अर्ज़ करूँ कि तुम्हारा शत्रु पानी है, न कि तीन ब्राह्मण। परन्तु न तो मंत्र मिला न आयत और न मैं वक्रगति इदागति से कुछ कह सका। असल में यह त्रुटि मेरे उस्तादों की रही। मौलवी साहब को मुझे वेद पढ़ाने की कभी अक़्ल नहीं हुई, और न पंडितजी को कुरान सिखाने की। मैं अपने बाप और बाप के एक मित्र से इन दोनों काव्यों के नाम ही सुन कर रह गया था।

यह खैरियत थी कि रात अब सिर्फ़ चार घटे बाकी बची थी। सो हम लोगों ने एक दूसरे से चिपट-चिपटा कर काट दी। इसकी भी इसलिए खास ज़रूरत पड़ी कि मेरे पाँच

रुपये वाले नोट को शर्माजी की जेब में सुरक्षित रखना था।

अगले रोज़ तो हम ने गंगाजी में स्नान करके तीन ब्राह्मण साथ चलने के अपराध को धो डाला, जिससे रेल की वापिसी में कोई कहने-लायक बात न हुई।

× × × ×

दस-बारह वर्ष बाद जब मेरी शर्माजी और भरतजी से एक बार एक साथ मुलाकात हुई तो पुरानी स्मृतियों के जागरण में तीनों ने कोरस के साथ एक आह निकाली और कहा, "यार, वे दिन अब कहाँ हैं? कैसा फ़र्स्ट क्लास ट्रिप रहा था वह?" अब तो सर्वेयरी के अभ्यास, अँग्रेज़ी के ट्यूशन और हिन्दुस्तानी के प्रोपेगेन्डा से ही फ़ुर्सत नहीं। नोन, तेल, लकड़ी—और निन्यानवे का फेर!

दो मित्र

यूनिवर्सिटी में दाखिला करा लेने के बाद होस्टेल में रहते हुए मुझे एक सप्ताह से अधिक न हुआ होगा कि एक संध्या को दो-गोरे चिट्टे, मगर थिथिल्ले-से, छात्र-सज्जन बेतकल्लुफी से मेरे कमरे में घुस पड़े। खैर, मैं साहस न था जो इस पर आपत्ति करता। परन्तु वे मुझे पूछने तो देते कि ये कौन हैं! जी नहीं, वे मुझे पचानते थे—या, खुदा जाने, पहचानते भी थे या नहीं—इसलिए मेरा फर्ज था कि मैं भी उन्हें पहचानता होऊँ। कमरे में पदार्पण करने पर मुझे अपनी तरफ़ देखने बाद में दिया, पहले ही यों हावी हो उठे—"अस्सलाह, तिवारीजी महारा-आज अल्ला., हि-हि-हि-हि-हि-हि ....और हमें पता भी नहीं। वह तो, अभी-अभी नरेन्द्र से मालूम हुआ कि आपने यहाँ 'ज्वाइन' किया है। अच्छा तो आपने इतनी देर से क्यों ज्वाइन किया। मगर बड़ा अच्छा किया, बहुत ही अच्छा किया। हमें तो बड़ी खुशी हुई जब सुना कि आप भी यहीं आगए हैं। पर यार, पता तो देना था! यानी, आर हस्ते

भर से आए हुए हैं और हमें पता भी नहीं ! हिः हिः हिः हिः हिः हिः —ह हिः हिः हिः हिः हिः हिः ...."

मैं तो सकते में आगया और मेरे पड़ोस के कमरेवाले सज्जन भी, जो मेरे पास बैठे थे, इन नए रिश्तेदारों का मुँह ताकने लगे। मैंने खड़े होकर दोनों स्नेहियों का अभिवादन किया, चारपाई पर बैठने की उनसे प्रार्थना की, और निवेदन किया, "नरेन्द्र का भी मुझे पता नहीं था कि वह यहाँ है। एक दिन ऐसे ही घूमते हुए मिल गया तो मालूम हुआ। पर आपको मैंने पहचाना नहीं।"

"क्या? पहचाना नहीं! लो जग्गू, तिवारीजी हमें पहचानते ही नहीं! चाँदपुर में रहते हैं; हमें पहचानते ही नहीं।"

तबीयत में कुछ विनोद और प्रत्युत्तर का सा भाव भरके मैंने कहा, "आप यदि चाँदपुर के कलक्टर और सुपरिन्टेन्डेन्ट—पुलिस हों तो मुझे क्षमा कीजिएगा। पर मैं सच कहता हूँ, मैंने आपको पहले कभी नहीं देखा।"

मेरे इस उत्तर से वे दोनों कुछ अप्रतिभ से होगए। फिर एक ने कुछ कहने के लिए मुँह खोला कि दूसरे के मुँह से कोई ध्वनि निकलते ही वह चुप होगया। और दूसरा ध्वनि निकालते-निकालते रुक गया कि पहला यदि कुछ कहना चाहता है तो पहले वही कहले। पुनः पहले ने मुँह खोला कि दूसरे ने भी खोला और पहले ने मुँह बन्द किया कि दूसरे ने भी बन्द किया। रास्ते में बिलकुल आमने-सामने आ पड़े दो व्यक्तियों की भाँति उनकी इस

लौट-पलट में मैंने उनकी सहायता करते हुए कहा, "आप दोनों एक साथ ही बोलिए न, जैसे इस कमरे में आते हुए बोले थे।"

शायद दोनों ही बोले होंगे, या एक एक—पता नहीं—और उन्होंने मुझे अच्छी तरह विश्वास दिला दिया कि चाँदपुर के किन्हीं मिस्टर खन्ना के वे दोनों पुत्र हैं और स्वयं भी खन्ना ही हैं। मैं उनके पिता को नहीं जानता था; यह भी उनके लिए एक आश्चर्य-जनक बात ही थी। सबसे अधिक विश्वास खन्ना-बन्धुओं ने मुझे इस बात का दिलाया कि वे दोनों इण्टर-सेकण्ड-इयर में पढते हैं और उनकी अँग्रेज़ी ज़रा कमज़ोर है, और यदि सालभर में पन्द्रह-बीस मिनट को अपनी अँग्रेज़ी की पुस्तक वे मेरे यहाँ ले आवें तो कोई बुराई नहीं होगी।

"बुराई !" मैंने कहा, "खन्ना साहब ! भलाई ! भलाई ! चाँदपुर के होने के नाते इतनी भलाई तो साल के अन्त में आप मेरे साथ अवश्य कीजिएगा ही।"

"साल के अन्त में ! चिन्नू भाई-साहब, देखा —तुम जो कहते थे कि तिवारीजी बड़े हँस-मिज़ाज और खुश-मुख आदमी हैं। हमतो आपको पहले से ही जानते हैं, तिवारीजी-ई—" फिर एक क्षण की दुविधा के बाद—"अरे ! यह जेब में क्या किताब पड़ी है ? वाह, यह तो अँग्रेज़ी की ही किताब है। देखिए, तिवारीजी, यह 'प्रोज़्' की एक किताब है।" और जग्गू भाई-साहब ने जैसे बड़ी बे-दिली से

अपनी जेब में से एक अँग्रेजी की पुस्तक जैसे तैसे निकाल -कर मेरे हाथ में थमा दी।

१

नरेन्द्र मेरा एक बचपन का साथी है और उसे यूनिवर्सिटी में पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी। यह भी सेकंड इयर में पढ़ता है। उस से जबरदस्ती खन्नाओं ने दोस्ती करली और जब उन्होंने मुझे उससे दो-एक बार बातचीत करता देखा तो कभी विश्रम्भ में उससे मेरा परिचय भी पूछ लिया। यह जान कर कि मैंने एम० ए० में प्रवेश कराया है उन्होंने इस सूचना को अपने हृदय में रेखांकित कर लिया कि मैं भी चाँदपुर से हूँ।

परन्तु धीरे-धीरे मुझे मालूम हुआ कि मेरा विचार ग़लत था। वास्तव में खन्ना-बन्धु यूनिवर्सिटी के अथवा चाँदपुर के हर-किसी विद्यार्थी के मिलने-जुलने के इतने शौकीन नहीं थे, जितना होस्टेल का हर-कोई विद्यार्थी उनकी दोस्ती का उत्सुक रहता था। ये दो खूबसूरत-से, छिवल्ले-से, हँसमुख-से, रईस-ज़ादे अपने कमरे में चाँदपुर का घी खूब रखते थे और जाड़ों में, घी के अतिरिक्त, पेशावरी मेवा भी। मेवा को लिहाफ़ में छिपाकर रखते थे— न मालूम, छिपाने के लिए, न मालूम, जाड़ों में उसे अधिक गरम रखने के लिए। पर हम, होस्टेलवाले, चोट्टे नहीं थे। और, वैसे तो, याराने की चोरी चोरी भी नहीं कही जाती। परन्तु याराना तो होना ही चाहिए, ?

और चूँकि उनका घी और मेवा खाते थे इसलिए

सबलोग उन्हें छेड़ते भी थे, खूब मज़ाक बनाते थे। पर खन्ना-बंधु हँस-मुख और खुश-मिज़ाज थे। प्रायः बेवकूफ बनते रहते थे, कभी-कभी शायद जान-बूझ कर, क्योंकि बेवकूफ़ बनना तो शायद आवश्यक आपद्धर्म था। इसे मैं उनकी बुद्धिमानी और मानसिक उदारता भी कहता हूँ। बेवकूफ बनकर सब से ज़्यादा वे ही हँसते थे जिससे उनकी कभी किसी से लड़ाई—मामूली कहा सुनी भी—न हुई। मैं तो बेवकूफ़ बन कर प्रायः खिसिया जाता हूँ, पर वे तो छोटी—मोटी चोट तक को हँसते-हँसते सह लेते थे।

दोनों को अपना शरीर बनाने का शौक था। घी और मेवा ही प्रमाण है। पर वे कसरत भी करते थे—यूनिवर्सिटी की व्यायाम-शाला में, खुली हवा की मालिश के मुफ्त लाभ के लिए। वहीं एक बार उन्हें पटेबाजी सीखने का शौक हुआ। व्यायामशाला के खुले चौक में, एक-सी सूरतवाले ये दोनों भाई, जाँघिया कसे, दो शूर योद्धाओं की वीरश्री से सुसपन्न होकर, हाथों के पटे से आसमान में छेद करने के संकल्प का-सा भय पैदा करते हुए, एक-दूसरे के सामने मूर्त्तिमान तर्जना की मुद्रा में डटे हुए थे। मेरे मित्र के मुँह से अनायास निकल पड़ा —"बालि और सुग्रीव!" मैंने भी कहा —'वाक़ई!" और मेरे पास केमरा भी था। बाद में, उनकी उस समय की फ़ोटो रामायण के गुटके में बालि-सुग्रीव-युद्ध के प्रसंग के भीतर चिपका कर मित्रों को और उन्हें दिखाई गई थी, जिस पर औरों से अधिक बाली और सुग्रीव ही हँसे थे। हम लोगों

में कोई तुलसीदासजी के मानस पुत्र भी थे, जिन्होंने वहाँ चौपाइयों का संशोधन कर यों लिख दिया था—

कहा राम सुनु वालि-सुग्रीवा ।
तुम अस आन आहि को जीवा ॥
जुग जुग जियहु करहु लरिकाई ।
पटा बजाइ, नीति सिखलाई ॥
हँसहु सदा तुम ऐस सुरंगी ।
जस होइ मूर्ख चतुर बहुरंगी ॥
लरहु लरहु, पट-खेलतुलावहु ।
ब्रह्म-माय-बिच हँसहु हँसावहु ॥
देखन हित तव वानर-लीला ।
गहेउँ मनुज कर तनु-गुन-सीला ॥
मित्रन्ह तुम घृत-मेव खिलावा ।
ता तें मैं अति ही सुख पावा ॥
यहि असीस मम लेइ जिय मेलहु ।
जियहु जियहु संसृति-क्रम ठेलहु ॥
पुरा डारविन मोहि कही, कथा तुम्हार सुहाइ ।
देखेउँ पुनि महि आइ अप, रमहि सुनावहु जाइ ॥

और इन चौपाइयों को टिप्पणी सहित गाकर सुनाने का भार मेरे ऊपर पड़ा, क्योंकि मैंने ही हिन्दुस्तानी में एम० ए० का कोर्स ले रक्खा था। मैंने समझाया—"मियाँ खुदाराम फ़रमाते हैं कि—"जिओ, जिओ, हे वाली और सुग्रीव मैं तुम्हें अमीत करता हूँ; क्योंकि तुम्हीं दुनिया को घी और मेवा भक्षण कराते हो, नहीं तो दुनिया जड़-क़न्द वग़ैरह

चबा-चबा कर सूख जाती और मेरी माया बेकार हो जाती। तुम्हीं तो, ऐ मेरी माया मलका के आशना, माया-मेवा का हुस्न देख-दिखाकर अखिल मख़लूक को पटेबाज़ी सिखाते और जीने के लिए मजबूर करते हो। तुम्हें ही पकड़ कर दुनिया हँसती और क़ायम रहती है। तुम्हीं मेरा और बीवी माया का गठजोड़ा कराने वाले पाधा हो।

"महाऋषि द्रविण कलदारी से मैंने तुम्हारी छलाँग भरने की कारीगरी की बात सुनी थी। उसे सुनकर मैं खुद तुमसे पटेबाज़ी सीखने के लिए इंसान बना हूँ। सो मैं तुमसे बहुत खुश हूँ और दुआ देता हूँ कि तुम जितना ही अधिक बन्दर का सा नाच नाचोगे और उछल-कूद करोगे उतने ही बढ़िया इंसान कहलाओगे।"

"इसलिए, जिओ, जिओ, अमर होओ, और होस्टेलवाले तुम्हारी सुरंगी-बहुरंगी फोटो बना बना कर अपने दिलों में घी-मेवा के गरौंदे बनाते रहें। मेरी भी नई नई रामायनें बनती रहें आमीन! आमीन।"

इस आशीर्वचन का परिणाम यह हुआ कि इएटरमीजिएट पास करके जग्गू भैया-यही इन दोनों में ज्यादा चंट थे-एक रोज़ बोर्ड आफ़-रेवेन्यू के किस खुर्राट गोरे मेम्बर से जाकर मिल आए। और उनके द्वारा अपने एक भाई की रिहाई का परवाना ले आए जग्गू के यह भाई मुख्तार थे और मुख्तार-गिरी पास न थे, जिससे उनकी प्रेक्टिस में बड़ी खामी पड़ती थी। गोरे जग्गू ने गोरे मेम्बर से अपने भाई को पास करने की क़ैद से रिहा करवा दिया।

३

एक रोज़ मुग़र्दने जग्गू ने मुझे, मेरे मित्रों सहित, चाँद-पुर की बाज़ार—सड़क पर घेर लिया। जग्गू ने इस समय एम० ए० कर लिया था। उसने तो कहा कि वह इंग्लैण्ड से एजूकेशन की कोई डिग्री भी ले आया है और इस समय किसी देशी रियासत के किसी कालेज में प्रोफ़ेसरी कर रहा है। गरमियों की छुट्टी में घर आया था। सो बड़ी मुहब्बत की बातें हुईं, एक दूसरे का हाल—चाल पूछा गया और अन्त में उसने कहा, "आओ, घर चलो।" मेरे साथ के दोस्तों में नरेन्द्र भी था। मैंने तो केवल यही कहा कि अब गरमी में किसी के घर—वर नहीं जाते, पर नरेन्द्र बोला, "नहीं जी यह शर्बत पिलाएगा।" फ़ौरन् निगाहों में शरारत का संकेत घूम गया और मैं ने पूछा, "और घी—मेवा भी?" "हाँ, हाँ, चलो" जग्गू ने मुस्तैदी से उत्तर दिया, "मीठा ख़रबूज़ा खिलाएँगे।"

"अच्छा? और शर्बत भी?"

"चलो चलो शर्बत भी।"

"और पान? और सिगरेट?"

"अरे यार, चल तो, कि मज़ाक़ कर रहा है।" जग्गू खींच ले चला।

उसने अपने मकान की सब से ऊपर की छत पर एक चारपाई पर हम लोगों को बिठा दिया। लालटैन लाने की शायद इसलिये ज़रूरत न समझी होगी कि थोड़ी देर में चाँद उगने वाला ही था। हम लोगों में से किसी ने कहा,

"जग्गू, सुन। अब अगर तेरे यहाँ लालटैन भी नहीं है तो हम लोग अँधेरे में ज्यादा देर नहीं बैठेंगे वह खरबूजे-अरबूजे का भी कोरा झाँसा ही था या, लाता है फिर?"

जग्गू खरबूजे खिलाने का आश्वासन देकर नीचे-चला गया और जरा देर में एक फल हाथ में लेकर आता-आता मुआफी माँगने लगा— 'यार क्या बताऊं। आज ही बाहर से खरबूजे आए थे और अब तक इन लोगों ने सब साफ भी कर डाले। बस यही एक बचा है तुम्हारे भाग से?"

उम्मीद तो हम लोगों को भी कुछ-कुछ इसी की थी। मगर जग्गू-टाइप के कुछ बुजुर्गों से पहले सुन चुके थे कि मूज़ी का ज़रा-सा भी माल हाथ लगे तो छोड़ना नहीं चाहिए। सो मैंने कहा, "भई, एक ही बहुत है। असल में तो गरमी बहुत लग रही है। शरबत का इन्तज़ाम करो। खरबूजे को तो हम आपस में निबट लेंगे। बरफ़-बरफ़ मँगाया है क्या?"

"अजी घड़े का पानी देखो, तिवारी जी! अगर बरफ़ से भी बढ़िया न हो तो।"

"नहीं, नहीं, उस घड़े को फोड़ डालो। बरफ़ मंगाओ बरफ़।"

"अच्छा ज़रा आने तो दो। जो बरफ़-सा ठंडा न हुआ तो बरफ़ मँगा लेंगे," और खरबूज़ा-चाकू हमें सौंप वह शरबत का प्रबन्ध करने चला गया।

मगर लाया शरबत के बजाय पंखे। जितने आदमी थे

उनसे भी एक अधिक ले आया। नरेन्द्र ने कहा, "देखा ? फ़ैयाज़ी इसे कहते हैं। चलो, पंखे ले चलो, और शरबत बाज़ार में पीलेंगे।

"क्यों बे नरेन्द्रे !" जग्गू बोला, "तिवारीजी, शरबत बन रहा है, अभी लाता हूँ। इतने पसीना सुखाओ।"

ज़रा देर में जग्गू का छोटा भाई शरबत का लोटा और पाँच-छे पीतल के गिलास ले आया। जग्गू ने पहला गिलास भर कर मुझे दिया—याद है, मैं उसका गुरु रह चुका था ?—और फिर औरों को। शरबत के गिलास को मुँह लगा कर हम सब एक दूसरे की ओर देखने की कोशिश करने लगे। तब मैंने जग्गू से कहा, "यार वाक़ई शरबत तो अच्छा है। और बरफ़ की भी ऐसी ज़रूरत नहीं मालूम होती।"

"हें, मैं कहता था न। और, शरबत भी पसन्द आया ?"

"हाँ, यार। एक गिलास से तो तबीयत भरी नहीं। क्या एक-एक और नहीं मिल सकता ? पर खुद ही बनाकर लाओ। तुम्हारे छोटे भाई की वजह से, हम लोगों की हँसी-मज़ाक में फर्क पड़ता है।"

उन दोनों को ढकेल कर मैंने धीरे-से अपने मित्रों से कहा, "देखो, हरेक आदमी को चार चार गिलास पीने पड़ेंगे, किस तरह ? इस तरह—अच्छी तरह समझलो।" और मैंने चुपके से अपने गिलास का शरबत चारपाई के नीचे दूर को बहा दिया। दूसरों से भी ऐसा ही करवाया,

और उसी तरह जग्गू को चार चार नीचे भेज-भेज कर चार-चार गिलास हरेक को पिलवाए। और इसके बाद मकान के बाहर आकर, जग्गू को भी जबरदस्ती अपने साथ लेकर, हमने जबरदस्ती ही बाज़ार में उससे पान और सिगरेट खरीदवाए-जो पान और सिगरेट का इस्तअमाल न करते थे उनके लिए भी।

इसके कुछ रोज़ बाद एक दिन घूमते—फिरते ही बिस्सू-जग्गू से फिर मेरी मुलाक़ात होगई। जग्गू ने मुझसे शिकायत की, "क्यों, तिवारीजी, इस तरह शरबत बखेरा था उस दिन?"

मैंने पूछा, "सच सच बताना। क्या बोरी उसी वक्त खोली गई थी?"

"उसी वक्त तो नहीं। हाँ, उसी दिन खोली गई थी क्यों, शरबत अच्छा नहीं था क्या?"

"यह शीरे का भुस-भरा शरबत पिलाने के लिए हमीं तुम्हें मिले थे? अरे, हम घी मेवा के खाने वाले आदमी हैं।

इधर बरसों से बिस्सू-जग्गू से मुलाक़ात नहीं हुई है। यह भी पता नहीं वे कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं। परन्तु पुराने ज़मानेके साथ-साथ उनकी याद अकसर हरी हो जाती है। दोनों भाई मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। सदा हँस-मुख, अपने मतलब में होशियार, परन्तु दूसरे को नुकसान पहुँचाने के विचार से अनभिज्ञ। हो सके तो, थोड़ी-बहुत दूसरे क खिदमत भी कर देते हैं। उन्हें तुम काम के

मामले में बेवकूफ़ नहीं बना सकते। पर वैसे बेवकूफ़ बनाते रहो तो खुद तुम्हारे इस काम में तुम्हारी सहायता करेंगे दिल में कभी कोई कीना नहीं, छलछद्म नहीं और घमंड तो ज़रा भी नहीं। इसलिए कोई उनसे कभी नाखुश भी नहीं। यदि मैं बनाना चाहूँ तो उनमें मेरे—और जगत् के भी—गुरु बनने की योग्यता है। मैं समझाना चाहता हूँ कि उनका सबक जिस तरह एक शरीफ़ आदमी की लोकयात्रा के लिए उपयोगी हो सकता है उसी तरह वह किसी के आध्यात्मिक जीवन में भी नहीं लग सकता क्या?

पहाड़ों में एक दिन

मसूरी को शहर बना लिया गया है, परन्तु मेरे पर्वत-भ्रमण का वह पहला अनुभव कृत्रिम-शोभा की अपेक्षा प्राकृतिक वैचित्र्य की संवेदनाओं का ही विशेष संगम बना। इसी से मैं अपने मसूरी भ्रमण की बात न कह कर पहाड़ों में एक दिन की याद कर-रहा हूँ। जिस दिन की याद कर रहा हूँ वैसे अनेक दिन मुझे उस मसूरी-प्रवास में प्राप्त हुए थे और इस लाभ के लिए अपने भाग्य का ही आभार मुझे मानना पड़ेगा।

राजपुर से प्रातः समय पैदल रवाना होकर लगभग दो बजे, तीसरे पहर को, हम लोग मसूरी पहुँचे। पाँच-छै घंटे में सात-आठ मील!—कालेज के एक-नौजवान छोकरे के लिए शर्म की बात है। पर मैं अपने दोनों बूढे साथियों से इस तरह फँसा हुआ था जैसे किसी लँगड़े आदमी के साथ उसकी साबित टाँग। और मैं यह सोचता था कि न मालूम क्या सोचकर मैं इस पार्टी के साथ मसूरी देखने चला हूँ। तथापि मुझे अफ़सोस नहीं था, क्योंकि उन सज्जनों में एक तो मेरे सम्बन्धी ही थे और दूसरे, जो अधिक

बुजुर्ग थे, बालकों का सा हृदय रखते थे। मसूरी की मौज न सही, संगति का आनन्द तो रहेगा ही।

पर मसूरी में सौभाग्य से एक रोज़ मुझे अपने छात्रावास के दो साथियों के दर्शन हो गये। मैं तो उन्हें बाज़ार में देख कर जैसे दौड़ पडा। और उन्हें भी मुझ से मिल कर हर्ष हुआ। कुछ भूमिका की बातें हुई और फिर झट अगले रोज़ का प्रोग्राम भी बना डाला। बना क्या डाला— उन दोनों का तो बना हुआ ही था, मैं उनके और अपने अतिशय आनन्द का हेतु बन कर प्रोग्राम में सहयोगी होगया।

मसूरी के लगभग पन्द्रह-सोलह मील पर यमुना के दर्शन होते हैं। सुना था कि लक्ष्मण झूले की भाँति ही उसके ऊपर भी लटकन-पुल बना हुआ है। उसी को देखने के लिए हम लोग अगले दिन रवाना हुए। साथमें कुछ बिस्कुट, कुछ चने और अपनी-अपनी धोतियाँ बाँधली।

पहाड़ों में इस तरह घूमने का मेरा वह पहला ही मौका था। मुझे प्रत्येक बात अद्भुत मालूम हो रही थी। रवाना होते समय की भावना से लेकर लौट आने की घड़ी तक का प्रत्येक क्षण मेरे लिए एक अद्भुत कौतूहल, विस्मय, उमङ्ग, कायतरता और आँखों की होड़ का भंडार था। आँखों की होड़ का तो यह कहना कि उस रोज तो कई बार मैं भी मृगनयन—यद्यपि अभी तक स्त्रियों के ही नेत्र मृग के से होते आये थे—बन गया।

मसूरी से एक-आध मील आगे बढ़ कर ही जो एक

लंबा चौड़ा सा घना जङ्गल है उसमें, लोगों ने हमें डरा दिया था, जङ्गली जानवरों का निवास है। जङ्गली जानवरों को छोड़ कर जङ्गल में शहरी जानवरों का निवास कहाँ से होगा, यह समझने की बुद्धि रखते हुए भी हमारा डरना मानवी प्रकृति के अनुकूल ही था। मृग-प्रकृति के अनुकूल भी। यदि हमारे पैर तेजी से अग्रसर हो रहे थे तो नेत्र भी रूप सुधा के लिए स्थिर नहीं थे। पर वह जङ्गल सहीसलामती से पार होगया। जङ्गल के किसी सभ्य से हमारी मुलाकात नहीं हुई।

पर घने जङ्गल की विभीषिका से निकल ज़रा आगे ऊँचे टीले पर चढ़-कर देखा तो वहाँ दूर तक सफ़ेद तग पट्टी की निश्चल झिलमिल फैली दिखाई दी। उसके सहारे सहारे ऊँचे और नीचे, नोकीले या कूबदार, कहीं सीधे ऐसे कि सज्जन और कहीं छैला-जैसे लहरदार, विरल वृक्षों का अनोखा मुकुट लगाये हुए, पर्वतराज के वंशज दोनों ओर खड़े या बैठे थे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वे भी अलग अलग अपनी अपनी भावभगियों का प्रदर्शन कर रहे थे। कोई नीचे को झाँक रहा है, कोई अकड़ कर तना हुआ है कोई नाचने का इरादा कर रहा है, तथा कोई दर्शनशास्त्र के किसी तत्व की मीमांसा में लगा है। अरावली पर्वत-श्रेणी में जल की कमी नहीं है। अतः जहाँ पर्वतराजि अधिक सघन और ऊपर से नीचे तक समान थी वहाँ अनुमान होता था कि बहुत-से पहाड़ी देवों की भाँति इन शिखर जन ने भी रोमयुक्त परिधान धारण कर रक्खा है। इन सब के ऊपर

उगते हुए सूर्य की किरणों की भी अजीब छटा थी । मन होता था कि सारा दृश्य एक साथ नजरों से भर लूँ ।

उधर, पीछे की ओर, दूर पर समतल स्थल में एक गाँव का-सा आभास मिलता था । घूमे तो उस ओर ही देखने लगे । छोटे-छोटे खेतों में तरकारी उगी हुई थी । कोई एकाध एक या पौन फुट की मूर्ति झुकी-झुकी इधर-उधर हिलती-डोलती दिखाई देती थी । न मालूम घास बीनती थी या तरकारी सँभालती थी । झोंपड़ी हमें कोई दिखाई नहीं दी । इस ओर सूर्य की किरणें अभी अच्छी तरह नहीं पहुँची थीं । पर दिन का प्रकाश फैल गया था । उधर के सोने, चाँदी और मरकत भण्डार की तुला में इधर का दृश्य अभी मरकत ही मरकत था ।

इन दोनों ओर के दृश्यों को देखकर हम तीनों के मनमें अलग-अलग भावनाएँ पैदा हुईं । मेरे एक शान्तिप्रिय साथी ने कामना की कि यदि इस गाँव में ही एक झोंपड़ी बना कर वह तरकारी उगा सके तो उसे चाहने को कुछ न रहे । दूसरे महोदय इतने भावुक न थे और बोले, "भाई, मैं तो उन पहाड़ों में नदी के निकट एक पक्का विला बनवाऊँ और इस गाँव में से ही चार छै नौकर रखलूं । पढ़ा-लिखा नौकर तू ही जाइयो ।" पर मैं मैं तो सोचता ही रहा । काश कि मैं हनूमान्जी होता । तब इसी जङ्गल के पेड़ों पर रहा करता और इच्छा होने पर छलाँग मार कर अभी झोंपड़ी वाले की तरकारी कुरेद आता, अभी विलावाले की छत की टीन-वीन को बजा आता । अस्तु ।

इस प्रकार देखते देखते जब आँखें कुछ निहाल हो गईं तो कान जरा सचेष्ट हुए। दूर से कोई जलीय ध्वनि आ रही थी जिसके संबन्ध में हमारे अनभ्यस्त कान उस समय निश्चय नहीं कर सके कि वह किसी अति दूरस्थ प्रपात का गर्जन था या अपेक्षाकृत समीपस्थ सफेद पट्टी की कलकल थी। दोनों ही हो सकते थे, क्योंकि पत्थरों और पहाड़ों के दुर्ग में सरिता की कलकल भी कुछ गर्जन का सा अनुकरण करने लगती है। पास की किसी डाली पर कोई पक्षी भी आकर बोल उठा। तब पता लगा कि पास के जंगल से अनेक प्रकार के पक्षियों की मधुर आवाजें आ रही हैं। ये विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ पहले से ही आ रही थीं, परन्तु अभी तक उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं गया था।

आज जब उस दृश्य का चित्र मेरी आँखों के सामने आ रहा है तो भी उन-ध्वनियों को अलक्ष्यरूप से अपने कानों में गूँजती हुई ही मैं पाता हूँ और सोचता हूँ, शायद प्रकृति के कभी न थमनेवाले उस निरंतर संगीत का ही वह एक रूप था जो सुन्दरता को सुन्दर बनाता है और उसे सुन्दरता बनाने के लिए कभी-कभी स्वर्णोज्ज्वल हो जाता है। हमारे साधारण जीवन की दैनिक हलचल में, सोते-जागते भी, मालूम होता है ऐसा ही निरंतर संगीत चलता रहता है जो हमारे जीवन की अथवा विश्वजीवन की नित्य प्रेरणा है। जिस समय कभी किसी को यह संगीत सुनाई दे जाता है उस समय वह व्यक्ति बाह्य हलचल की ओर से पराङ्मुख हो जाता है और संगीत के सम्मुख होकर वह आत्मचिन्तन में

लीन होने लगता है। पर ऐसा प्रायः कम ही होता है। याद पड़ता है कि उस दिन मेरा भी ध्यान क्षण भर के लिए दृश्य की ओर से हट कर पक्षियों की ध्वनियों को समझने के लिए कुछ विचलित सा हुआ था।

पर मेरे साथी इस प्रभाव से निर्लिप्त थे। उन्हें तो सबके बाद में केवल एक ही ध्वनि का विशेष रूप से अनुमान हुआ जिसे सुन हम सब वहाँ की सारी सम्मोहनी को वहीं पटक कर आगे भाग चलने के लिए मजबूर हुए। दृश्य को भी हमसे कोई विशेष अनुराग नहीं हुआ। केवल वहाँ का अननुभूतपूर्व समीर हमारे पीछे लगा रहा या लगी रह उस ध्वनि की गूँज जिसके पसीने को वह समीर भी नहीं सुखा पाता था।

लगभग एक मील या दो मील, या कितनी दूर, हम लोग कैसे और कितनी जल्दी निकल आये—यह बतलाने की सामर्थ्य अनुमान की भी नहीं है। हाँ इतना बतला सकता हूँ कि एक स्थान पर, जो पूर्व दृश्य से बहुत दूर था पहुँच कर हमने साँस लिया। यहाँ के वातावरण में हमको भय की कोई परिस्थिति नहीं दिखाई दी। यह जगह भी ऊँचाई पर ही थी। एक ओर को, हमारे दाहिने हाथ की तरफ़, लाल पत्थर के कंगारे से उठ रहे थे तथा बाईं ओर, पहले धीरे-धीरे, फिर तेजी से बहुत दूर तक ढलकाव होता चला गया था जो दूसरी ओर के भी ढलकाव का सहयोग प्राप्त करके नीचे एक कुआ सा या कुंडसा बनाने में समर्थ हुआ था। उसकी गहराई में पानी भी जरूर रहा होगा।

क्योंकि वहाँ वृक्षों के स्थान में तरह-तरह की घासों और काई की वृद्धि ही हमें अधिक दिखाई दी जैसी कि प्रायः पानी के आस-पास और ऊपर हुआ करती है। परन्तु इस समय हमारा ध्यान उस ओर न था।

लाल कगारों और बाएँ हाथ के ढलकाव के बीच में छै–सात फीट की समतल भूमि कुछ दूर तक गई थी जो कि हमारा मार्ग थी। जहाँ यह मार्ग दाहिनी ओर को मुड़ता था वहाँ एक विशाल चौकोर-सी शिला मेरे लिये बिछी हुई थी; सो मैं तो उस पर लंबा होरहा। थकान और घबराहट ने हम लोगों को अच्छी तरह पस्त कर दिया था और मेरे साथियों को भी लंबे होने की ज़रूरत महसूस हो रही थी। पर वे ज़रा कोमलांग थे। अतः ढलकाव के सहारे, पगडंडी के बराबर में, सामने ही के छोटे से शाद्वल टुकड़े को उन्होंने अपनी शय्या बनाया। उनका तो पता नहीं, पर मुझे तो शायद एक झपकीसी भी आगई थी।

वहाँ की हवा भी कैसी सजीवनी थी। शायद पन्द्रह बीस मिनट ही लेटे होंगे कि हम लोगों की सारी थकान भी हवा होगई और हमने ग़लीचे पर बैठ कर चना–चबेना किया। इसके बाद हम लोग फिर आगे बढ़े।

एक–डेढ़ फर्लांग चलकर उतार शुरू हुआ। घुमाव भी यहाँ पर ख़ूब ही थे। लगभग प्रत्येक पाँच–छै गज के औसत पर घुमाव आजाता था। ढलकाव के कारण हम लोग जैसे लुढ़क रहे थे। ज़रा-सी ही देर में, कई मील तक एक ही बिन्दु

के इर्द-गिर्द चक्कर काट कर हम अन्ततः समतल भूमि पर आगए। सामने स्वच्छ जल की एक तीन गज चौड़ी धारा धीरे-धीरे सरक रही थी और उसके किनारे-किनारे जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक ब्राह्मी का और पेपरमिन्ट के से स्वाद और गन्ध वाली किसी घास का विशाल उपहार सजा हुआ था। नदी के ऊपर काठ का एक कच्चा तंग पुल भी था। पुल पारकर एक साफ से स्थान पर नदी के किनारे बैठकर हमने पेपरमिन्ट वाली घास का खूब चर्वण किया।

इस स्थान पर आदमियों की बस्ती अवश्य थी, क्योंकि सामने ज़रा दूर पर रास्ते से लगा हुआ एक चौखम्भे के आकार का शिलानिर्मित जल-यंत्र भी दिखाई दिया जिसमें पानी के वेग का नियन्त्रण करने के लिए एक लोहे की टोंटी लगी हुई थी। जल के ऐसे मुक्त भंडार के पास ही जल की टोंटी! खयाल हुआ कि स्रोत में से जल लेना निरापद न होगा इसलिए शायद मानवकृति विज्ञान का संस्कार-हीन संस्करण यहाँ उपस्थित किया गया है।

कुछ ही क्षण बाद एक भोली-सी पहाड़ी स्त्री अपने देहाती पहाड़ी लिबास में, और एक छोटी सी पीतल की नथ पहने हुए, कमर की झोली में अपने शिशु को बिठाए हुए, नल पर आकर पानी भरने लगी। मेरे पास केमैरा था। रास्ते के अनेक चित्रणीय स्थलों की उपेक्षा करके भी मेरा पानी भरने वाली की फोटो लेने को मन हुआ। कारण कदाचित् यह है कि चित्रणीय स्थल उतने चित्रणीय न थे जितने तल्लीन करने वाले, और इस दृश्य में कौतुक की

अवस्था थी। जब स्त्री से तस्वीर खींचने का प्रस्ताव किया गया तो वह कुछ सहमी हुई-सी यथा-निर्दिष्ट रूप में तस्वीर खिचाने को तत्काल सहमत हो गई। एक हाथ से टोंटी के हैंडिल को दबाती हुई तथा दूसरे से अपने घड़े को जल-धार के नीचे अपने एक घुटने पर सम्भालती हुई, सभ्यता से अछूत उस गँवार अधेड़ महिला का चित्र, जिसकी कमर के कूब से उसका शिशु भी झाँक रहा था, अभी तक मेरे पास है। पर अब जब कभी मैं उस चित्र को देखता हूँ तो मुझे अफ़सोस होता है कि मैंने उस स्त्री के साथ अन्याय किया। फ़ोटो खिचाते समय सरल स्त्री ने अवश्य यह आशा की होगी कि उसका तथा उसके बालक का चित्र उसे मिलेगा। पर मैं उसका फोटो उसे नहीं दे सकता था, इसीलिए मुझे उसका चित्र भी नहीं खींचना चाहिये था, यह मैं अब समझता हूँ।

चित्र लेकर हम लोग दो क्षण इधर-उधर देखने लगे विचार हुआ कि नदी के उद्गम की खोज करनी चाहिए। वापिस पुल पार करके स्रोत के किनारे किनारे ऊपर की ओर चलने लगे। कुछ दूर चलने पर हमको किसी जल-प्रपात की सी ध्वनि भी सुनाई देने लगी। परन्तु लगभग आधा मील और चले होंगे कि हमारा मार्ग अवरुद्ध हो गया। बहुत से वृक्षों और घास-पात से ढके हुए एक दुर्भेद्य सघन में अनन्तर अकस्मात् विलीन हो गया था। यहीं से, पहाड़ के आधार फिर मालूम होने लगे। अब किधर जाएँ? पर पास ही में एक पगडंडी की रेखा ऊपर को जाती-सी दिखाई

थी, जिससे वहाँ जन-संचार का होता रहना स्पष्ट था। यहाँ जल प्रपात का गर्जन भी अपने पूर्ण रौव के साथ सुनाई दे रहा था। कौतूहल—वश हम उस पगडंडी पर चल ही पड़े।

पाँच—सात मिनट चलने के उपरान्त ही प्रपात हमारी आँखों के सामने आ गया। कैसा मनमोहक और भयंकर था वह उसकी तरफ़ देखकर डर लगता था और देखे बिना रहा भी नहीं जाता था। मैं नहीं कह सकता कि वह कितना ऊँचा था, पर था बहुत ही ऊँचा, और एक दम सीधा-जैसा। जलधाराओं में नहीं बल्कि तरल शिलाओं के रूप में वह आसमान से गिर रहा था। शब्द से कान फटते थे। इस पर भी मुश्किल यह थी कि कहीं भी दोनों पैर बराबर रखकर खड़े होने को कोई जगह नहीं। तंग पगडंडी जैसे नीचे को फिसली पड़ती थी। क्योंकि चढाव अब ऊँचा हो गया था और नीचे ही वह रहस्यमय तग गह्वर था जिसे हम ने ऊपर अपने विश्राम-स्थल से देखा था। पगडंडी के सहारे खडे हुए वृक्षों का दोनों हाथों से दृढ़ आलिंगन कर हमने दो मिनट उस प्रपात-दानव के दर्शन किये। उसके जल का यहाँ से भी पता नहीं चलता था कि कहाँ जाता है। संभवतः गह्वर से मिली हुई कोई भूलीन गुफा थी जिसमें भर कर जल फिर उस नदी के रूप में बाहर आता था।

उसी पगडंडी से बडी सावधानी के साथ हम लोग उतरे। उतरना और भी खतरनाक था। ज़रा पैर फ़िसले कि ठिकाना नहीं। 'राम' 'राम' करके हम फिर उसी स्थल पर आगए जहाँ नदी अदृश्य हुई, थी, और हमने खुलकर साँस लिया।

अब हमने निश्चय किया कि मार्ग में और कहीं भी न ठहर कर सीधे जमना-तट पर ही विश्राम लेंगे। पर इसी बीच में कोई आदमी दिखाई दिया जिसने, पूछने पर, हमें बताया कि यमुना अभी चार कोस और है। चार कोस, यानी आठ मील! अभी तक आधे ही आ पाये हैं। और घड़ी क्या कहती है?—कि दोपहर हो चुका। शाम तक आठ मील जाना और सोलह मील लौटना असंभव है। इसके साथ ही उस जंगल की भी याद आगई जिसमें से किसी डरावने जन्तु के शब्द के आने का सन्देह करके हम लोग सिर पर पाँव रख कर भागे थे।

यमुना देखने के लिये अब किसी और रोज़ एक—दो पहाड़ी कुली साथ करके आएँगे। यह निश्चय कर हम तीनों ने मसूरी लौट चलने का इरादा किया। मसूरी भी आठ मील है, और फिर-वही सब चढ़ाई, जिस पर से उतर कर अभी अभी आए थे। साथ ही हमारी थकी हुई हालत भी! उस आदमी से हमें पता लगा कि इस पगडंडी से ही जाकर हम बात करते—करते ऊपर पहुँच जायँगे।

भगवान् का नाम लेकर फिर वही पगडंडी पकड़ी जैसे-तैसे अपने-अपने दिलों को थाम कर हम चढ़ने लगे। आदमी ने अधिक झूँठ नहीं बोला था। बात करते-करते न सही, तो बात की बात में अवश्य हम ऊपर ऐसे पहुँचे कि आश्चर्य हुआ। फिर तो सीधा रास्ता था। हाँ उस जंगल के पास अवश्य एक बार फिर अपने साहस और धैर्य को कसौटी पर रखना पड़ा। विला और कुटी बनाने अथवा

हनुमान्‌जी बनने की इच्छा के लिए इस समय फ़ुरसत न थी। जब तक जंगल के सीमांत से भी दस क़दम आगे न पहुँच लिए तब तक तरह-तरह के काल्पनिक भयावने शब्द हमसे मोर्चा लेते रहे। पर इतना अवश्य कहूँगा कि जब शाम को मसूरी की चाय-पानी की दूकान पर बैठ कर हम लोग एकाध प्याला पी चुके तो तीनों को सर्वसम्मति ने बड़ी सहूलियत से यह तय कर डाला कि "आज का ट्रिप बड़ा फ़र्स्ट क्लास रहा।"

कसौटी

'फ़र्स्ट-इयर फूल' कहलाता-कहलाता, धीरे-धीरे इण्टर-मीजिएट की बेड़ियाँ काट कर, जब एक रोज़ मैं बी० ए० के क्लास में जा बैठा तो मैं भी कुछ दूसरों को, अक्सर से, 'फ़र्स्ट इयर फूल' कहने लगा था। इस 'फ़र्स्ट इयर फ़ूल' का थोड़ा-सा अर्थ आप उदाहरण से शायद समझ सकेंगे। पहले वही समझा दूँ।

स्कूल के बाद कालेज का वातावरण एकदम बदला हुआ मिलता है, और घर से एकदम भिन्न होस्टेल का वातावरण होता है। दोनों नवीनताओं में अपने को समीचीन बनाने के लिए कितना कुछ सहना पड़ता है, यह स्वयं 'फ़र्स्ट इयर फ़ूल' बन कर देखिए। घर पर तो नहा-धो, पूजा-पाठ कर, कपड़े उतार के चौके में भोजन किया करता था। पर यहाँ जब ऐसा करने लगा तो कई रोज़ तक बराबर भूखा या आधे-पेट रहना पड़ा। अक्सर थाली पर बैठते ही उठ जाना पड़ता। यार लोग मेरी थाली में से रोटी उठा लेते, या अपने लिए स्थान पैदा करने को योंही मुझे छू देते, जिससे मेरा चौका छू जाता। इसी भाँति जब मैं नहाने जाता

तो वापिस आकर देखता कि मेरे पीछे मेरा कमरा किसी तरह खोल कर उसका सारा सामान लोगों ने बाहर फैला रक्खा है। परन्तु लोग वहाँ एक भी नहीं। कभी किसी खोंचेवाले से कुछ लेता तो होस्टेल के दूसरे सिरे तक से दो-चार महाशय बड़ी तत्परता से लपके आते और बड़ी सज्जनता से कहते, "क्यों साहब, आप ही आप। आखिर हमने तो 'फर्स्ट इयर फूल' कभी आपको कहा नहीं था।" शुरू-शुरू में मैंने सज्जनता-वश कई बार खोंचेवाले से कह दिया, "भई, आपको भी कुछ देना।" इसे भलमनसाहत कह लीजिए या मेरी मूर्खता। फिर तो नतीजा यह हुआ कि यदि मैं कभी खोंचेवाले को बुलाता, तो छिप कर। और छिप कर ही लोग भाँप भी लेते कि मैंने उसे बुलाया है। खोंचेवाला चीज़ मेरे हाथ में रखने नहीं पाता था कि वह किसी दूसरे के हाथ में पहुँच जाती थी। होस्टेल के कमरे से जब-कभी बाहर निकलता तो चारों तरफ से आवाजें आती थीं—"फर्स्ट-इयर फ़ूल!"

और ऐसा नहीं कि ये भिन्न भिन्न प्रकार के स्नेह-प्रदर्शन मेरे ही साथ किए जाते हों। फर्स्ट-ईयर के अधिकांश विद्यार्थियों का भाग्य मेरा ही जैसा उज्ज्वल था। परन्तु अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार इनमें से कोई आगे, कोई पीछे, धीरे-धीरे 'फ़र्स्ट-इयर फ़ूल' की बिरादरी से निकलते भी जाते थे। मुझे यदि इस बिरादरी में से निकलने में देर लगी थी उसका कारण यह था कि मुझे फ़र्स्ट-इयर वालों को 'फ़ूल' बनाने वाली बिरादरी में सम्मिलित होने में देर

लगी थी। तरक्क़ी के मामले में हमेशा से ही मैं ज़रा कुछ सुस्त ही चलता हूँ। अपनी बिरादरी या अपनी जाति से शत्रुता रखनेवाली बिरादरी या जाति में जितनी ही शीघ्रता से मिलोगे उतनी ही शीघ्रता से उन्नति हासिल कर सकोगे, यह मैंने जीवन भर देखा है। परन्तु खैर, सेकंड इयर तक आते-आते तो 'फ़र्स्ट इयर फूल' चिल्लाने का थोड़ा-सा और कभी-कभी अधिक था, अधिकार मैंने अपना लिया था।

सेकंड-इयर पास करते ही मैं थर्ड-इयर-क्लास में बैठा,, यह तो कह चुका हूँ, पर यह नहीं कहा है कि इन दो शुभ घटनाओं के बीच में एक अतिशुभ घटना यह घटित हुई कि मेरी शादी हुई और मुझे परम मनोनीत पत्नी मिली। सुननेवाले सज्जन शायद आपत्ति करने की भावना से कहेंगे कि विवाह के प्रारम्भिक जीवन में सबकी ही पत्नी मनोनीत होती है, खैर, जो हो सो हो, मुझे इन कहनेवालों से झगड़ा नहीं है। मैं तो केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि थर्ड-इयर में आते आते जहाँ एक ओर 'फर्स्ट-इयर फूल' चिल्लाने का मनोरम कार्य मैंने अपने सुपुर्द किया था वहीं एक गुरुतर और अधिक मनोरम काम भी मेरे ऊपर आ पड़ा था — पत्नी को लम्बी-लम्बी चिट्ठियाँ लिखने का। और उपन्यास-कहानी पढ़ने का शौकीन मैं बहुत दिनों से था। जब फ़र्स्ट-इयर में लोग 'फ़र्स्ट-इयर फूल' कह कर मेरा सम्बोधन करते थे तो मैं अपने कमरे की किवाड़ बन्द कर, या होस्टेल की छत पर अकेला बैठ कर,

बढ़िया-बढ़िया उपन्यास पढ़ा करता था। भावुकता का मेरे दिल पर, और मेरा मेरी भाषा पर, अधिकार ठीक-ठीक हो चला था। यदि उन दिनों की वे चिट्ठियाँ मेरे पास होतीं तो आप उन्हें देखते ही; और फिर देखते कि उनमें कैसा उच्च कोटि का संभोग-विप्रलम्भ-शृंगार भरा हुआ था। और हाँ मैं कविता भी करने लगा था।

अब थर्ड-इयर में उपन्यास और भी ज्यादा पढ़ने लगा था और अपने पत्नी-प्रेम की उदात्तता में महापुरुषों और महात्माओं के जीवन-चरित्रों की ओर भी मेरी रुचि हो चली थी। अब, वैवाहिक जीवन की कुछ चिट्ठियाँ लिख चुकने के बाद—कुछ जीवनिया भी पढ़ चुकने के बाद—फ़र्स्ट इयरवालों को 'फूल' भी कभी धोखे से ही कह देता था। याद तो नहीं, पर मैं शायद यही सोचता था कि यदि इनमें से कोई विवाहित हुआ तो उसको 'फूल' कहने में उसकी नवोत्साह से भरी पत्नी का कितना अपमान होगा। शायद मेरा यह विचार मेरे एक फ़र्स्ट-इयरवाले मित्र को देखकर अधिक प्रदीप्त हुआ हो। मेरे यह मित्र मेरे ही गाँव से आए थे और उम्र में मुझसे कुछ बड़े थे। परन्तु थर्ड इयर में होने के कारण मैं अपने को इनका अभिभावक-सा समझता था, और इनकी भी इसी साल शादी हुई थी। फिर भी लोग इन्हें 'फर्स्ट इयर फून' कहा करते थे और मैं इनसे कहता था—"ध्यान मत दो। ये सब नालायक हैं और अवारा हैं। बेवकूफ़ यह नहीं समझते कि जो 'फूल' होगा उसकी पत्नी उसे कैसा चाह सकती है।"

मैंने अब अश्लील मज़ाक करना भी बहुत कम कर दिया था। जीवनियाँ पढ़-पढ़ कर मेरे भीतर एक ऊँची कर्तव्य-भावना का समावेश हो गया था और शायद मेरे भीतर एक प्रकार का चरित्र निर्माण होने लगा था। इसे एक उदाहरण से सिद्ध कर सकता हूँ।

जब मैं फ़ोर्थ-इयर में आया तो एक सहपाठी की ओर हम लोग विशेष रूप से आकर्षित हुए थे। ये बेचारे बहुत ही सीधे सादे, बुद्धू-से, बहुत ही दुबले पतले, और अजीब-सी ही सूरत के आदमी थे और कहीं से बी० ए० में फ़ेल होकर आए थे। इनको सब ही छेड़ते थे और उन्हें 'बनाकर' विनोदित हुआ करते थे। संक्षेप में, वह सारे क्लास का मनोरंजन थे। एक रोज़ मैं होस्टेल को वापिस आ रहा था। यह सज्जन मुझे बाज़ार जाते हुए रास्ते में मिल गए। तबियत में चुलबुली उठी और गम्भीर बन कर उनका रास्ता रोकते हुए मैंने कहा, "अरे यार, अमुक महाशय (जिनकी इनसे सबसे अधिक मित्रता थी) अमुक स्थान पर (कोई दो मील दूर) बैठे हैं। मुझसे अभी-अभी कहा है कि आप-यदि कहीं मिल जाएँ तो मैं आपको तत्काल उनके पास भेजदूँ। वह आपकी प्रतिक्षा करेंगे। शायद कोई ट्यूशन व्यूशन की बात चीत है।" सीधा-सादा सहपाठी मेरा विश्वास कर सरल भाव से चल दिया, और मैं दिल में हँस कर एक फ़ोर्थइयर वाले को फ़ूल बनाने का आनन्द लेने लगा। परन्तु बहुत शीघ्र ही प्रतिक्रिया हुई एक फ़र्लांग भी न पहुँचा हूँगा कि मन में तीव्र आत्मग्लानि होने लगी और

उलटे पैर दौड़ कर मैंने सहपाठी को पुकारते-पुकारते आ पकड़ा। वह कदाचित् समझा कि कोई और बहुत आवश्यक बात कहने से रहगई है। हाँ, बात तो बहुत ही आवश्यक थी—मेरे दृष्टिकोण से, और उसके भी लिए। मैंने उससे अपना अपराध स्वीकार कर बार-बार क्षमा माँगी और उसे उस मिथ्या व्यवसाय से विरत किया।

फ़ोर्थ-इयर पास करते करते मेरी यह हालत हो गई थी कि मैं, अधिकतर कमरे में बन्द, या तो अपना कोर्स याद किया करता, अथवा फिर रामायण या महात्माओं के जीवन चरित्र पढ़ा करता। बाज़ार-बाज़ार बहुत कम जाता। कभी सड़क पर निकलता भी तो अपने नीचे की ही सड़क को देखता हुआ चलता जिससे कि भूल या मजबूरी से भी किसी स्त्री के ऊपर दृष्टि न पड़ जाए। ऐसे अवसरों पर उच्छृंखल मित्रों के साथ प्रायः नहीं रहता, क्योंकि ये आवारा ढंग की बातचीत और हँसी-मज़ाक किया करते थे।

बी० ए० पास करते-करते यह स्थिति यहाँ तक बढ़ी कि मैंने घर पहुँच कर सादगी और ग़रीबी से रहने का अभ्यास करने के लिए कालेज के सभी वस्त्र एक तरफ रख दिए और दो आने गज़ की खादी पहनना आरम्भ कर दिया। जीवहिंसा को अपने जीवन से एकदम अन्तर्हित करने की भावना से 'साँभर' नमक खाना बन्द कर 'सेंधा' नमक खाता। इसी प्रकार जावा शुगर और हलवाई के हाथ की मिठाई भी छोड़ दी, क्योंकि सुन रक्खा था कि जावा शुगर की तैयारी [illegible] काम में आती है। इससे सबसे बड़ी दिक्कत यह

हुई कि मैं किसी के यहाँ भोजन नहीं कर सकता था। वही आदमियों के दिन तो विवाहों के होते हैं, और रिश्तेदारियों में कहीं न कहीं शादियाँ होती ही रहती हैं। शादियों में तो जाना ही पड़ा; पर जब वहाँ भोजन से आनाकानी की तो बुजुर्गों से, भरी बरात में, चुपचाप गालियाँ खाईं। पर मैं अपने सिद्धान्त पर दृढ रहा। निस्सन्देह लोगों ने मुझे पागल समझ लिया, और मैंने लोगों के समाने पड़ना ही बन्द कर दिया। अपने पिता के सामने भी न पड़ता और अपनी एकान्त कोठरी में पड़ा-पड़ा सोचा करता और घुना करता।

तब मैं बीमार पड़ गया। बुखार आने लगा, और रोज-रोज। दस पन्द्रह दिन होगए। पिता ने नाराज होकर कहा, "डाक्टर साहब के यहाँ क्यों नहीं चले जाते हो? या हर तरह से हमें जलाने के ही लिए ही पैदा हुए हो?" डाक्टर के इलाज में न मालूम क्या-क्या दवाइयाँ खानी पड़ती हैं और वे न मालूम कैसे-कैसे तैयार होती हैं। पड़ोस में एक जलचिकित्सक रहते थे। मैंने उनसे कहा और, उनकी राय होने पर, चिकित्सा आरम्भ करदी। इन दिनों जलचिकित्सा मेरी मनोवृत्ति के अनुकूल भी थी—सीधी-सादी, सादगी की चीज जिसके लिए तपोव्रती होने की आवश्यकता पड़ती है। उबली हुई सब्जी और चोकर की रोटी खाने को देते हैं जो भूखे का गूलर भी नहीं बन पाती।

डाक्टर ने यह बता तो दिया था कि पानी के इलाज में प्रायः पुराने रोग उभरा करते हैं, परन्तु मैंने यह जाना तब जब कि इलाज आरम्भ करने के एक सप्ताह बाद ज्वर मुझे

अधिक तेज होकर आने लगा। "विजातीय द्रव्य आपके अन्दर बहुत अधिक जमा है," यह कह कर डाक्टर ने पूरे शरीर को वाष्प स्नान कराने की आज्ञा दी और यह हिदायत करदी कि इस स्नान के बाद तत्काल ही ठंडे जल से भरे पानी में बैठ जाना। स्टीम-बाथ के समय पिताजी घर पर ही थे और जब मैं उसके बाद ठंडे पानी में बैठने को तैयार हुआ, और उनके मना करने पर भी न माना तो वह निराशा के क्रोध में अपना माथा ठोक कर शिथिल होकर बैठ रहे। परन्तु ठंडे जल के स्नान से मुझे कोई हानि न हुई और बात निभ गई।

तथापि जलचिकित्सा से दो महीने में भी मुझे कुछ लाभ न हुआ। बुखार थोड़ा बहुत मुझे बारी बदल बदल कर बराबर आता रहा और मैं अत्यन्त कृश तथा निर्बल होगया। एक सज्जन ने तो उन दिनों मुझे देखकर यहां तक कह दिया, "नहीं नहीं आप अपनी किसी अच्छे विशेषज्ञ से चिकित्सा कराइए। आश्चर्य है आप अपनी बीमारी को अभी भी नहीं समझ रहे हैं।" मैं सचमुच डगमगा-डगमगा कर बहुत धीरे धीरे चलने लगा था।

इस सब का और तो जो कुछ परिणाम होना था सो होता रहा होगा; परन्तु सब से बड़ी बात यह हुई कि गरमियों की छुट्टियों के बाद में वापिस पढ़ने न जा सका। और दूसरी यह कि मुझे वह इलाज छोड़ना पड़ा। इलाज छोड़कर मैं फिर मसालेदार दाल रोटी खाने लगा और धीरे धीरे ठीक होगया।

ठीक तो होगया, परन्तु घर पर खाली पड़े रहने की समस्या मेरे लिए कठिन थी और दिन-प्रति-दिन कठिनतर होती जाती थी । मैं अकेला बैठा कुछ सोचता-साचता या अपनी पत्नी अथवा पुस्तकों की सहानुभूति प्राप्त कर अपना समय बिताता । परन्तु समय क्या इस तरह बीतता है ? निरुद्देश्य बेकारी में सारे काम काज की मर्यादा खो बैठते हैं । तपः-साधना अपने आपको ही जैसे ढोंग सी दीखने लगती है । पढना-लिखना और सोचना मुँह चिढ़ाने लगता है । समाज में मिलना-जुलना, उठना बैठना, जिसमें मन खुलता और विकसित होता है ,मेरे लिए निषिद्ध था, क्योंकि बाहर निकलने पर लोगों की धृष्टतापूर्ण जिज्ञासाओं—विशेषतः निठल्ले दोषदर्शी बुजुर्गों की लाञ्छनाओं—से मैं डरता था। उदाहरण के तौर पर—

एक दिन संध्या-समय किसी प्रसंग से मुझे बाहर निकलना पड़ा । जाड़ों के दिन थे। सड़क पर ही किसी की बैठक में से किसी ने मनोरञ्जन का अवसर देख मुझे बुला लिया । कुछ बूढ़े और कुछ अधबूढे लोग बैठे हुए गजक और रेवड़ियाँ टूँग रहे थे । मैं जो पहुँचा तो पहला प्रश्न यही हुआ, आज तो बड़े दिन मे निकले, महात्माजी ?" फिर किसी ने कहा, "लो बैठो, रेवड़ी-वेवड़ी खाओ।" इस पर एक अति बुजुर्ग खाँसते-खाँसते फर्माने लगे, "अजी, खाएँ तो तब जब इनके नसीब में हो। दुनियाँ में सब चीजें हैं, पर करमहीन के लिए नहीं है।" फिर एक अन्य महाशय ने अनुमोदन किया—"सकल पदारथ हैं जग माही । करम

हीन नर पावत नाहीं।'' ये सब लोग मेरे पिताजी के रातदिन के हितैषियों में से थे। उन्हें सब कुछ कह लेने का अधिकार था।

इसी प्रकार घर के भीतर भी हाल था। जिन बातों पर दुनिया लाञ्छित करती थी उनके अतिरिक्त पिताजी को यह भी शिकायत थी कि मैं घर-घुसना बना रहता हूँ. भले आदमियों से मिलता-जुलता नहीं, न मालूम कैसी कैसी किताबें पढ़-पढ कर अपने को खराब करता रहता हूँ, और पत्र व्यवहार तो, देखो तो, इतना बढ़ा रक्खा है। मानों सेक्रेटेरियट का दफ्तर ही खोल रक्खा हो। और निस्सन्देह पिताजी का कहना सच था। घर-घुसना तो मुझे ऐसा बनना पडा कि घर के भीतर भी अपनी ही कोठरी में बन्द पड़ा रहता। पिताजी के सामने पड़ता हुआ मैं बहुत ज्यादा झिझकता, डरता था।

इस बीच में एकाध स्थान पर नौकरी का भी प्रयत्न किया था। परन्तु खद्दर के कोट को देखकर हर कोई चौंकता था। और, बात यह भी थी कि महीनों की इन परिस्थितियों में मेरे भीतर आत्मविश्वास का एकदम ह्रास हो चुका था।

इस प्रकार जब कहीं नौकरी भी नहीं पा सका तो पिताजी की कुढ़न तो बढनी ही थी। मैं यदि नौकरी तलाश करता था तो केवल थोड़े दिन करने के लिए, मैं अगले वर्ष एम० ए० में पढना चाहता था। परन्तु पिताजी को अब निश्चय हो गया था कि मुझमें शायद आगे

पढने की भी योग्यता नहीं रह गई है, अथवा, यदि मैं पढ़ने जाऊँगा तो, मैं अपने को और अधिक बिगाड़ूँगा ही। और उन्होंने कहा था, "यहाँ तो, महात्माजी, आपसे घर के बाहर भी नहीं निकला जाता। बाहर पढने जाएँगे आप! और वहाँ आपको गुड़ और सेंधा नमक कौन खिलाया करेगा?" यद्यपि मैंने उत्तर दिया कि एक अँगीठी खरीद कर अपने कमरे में ही खीचड़ी पका लिया करूँगा, तथापि मैं जानता था कि इस उत्तर से उनको अधिक असन्तोष ही होगा। वह अब इस बात के लिए अत्यन्त आतुर थे कि किसी प्रकार मुझे कहीं चिपकवा कर मेरी ओर से निश्चित हो जाँए।

तब भाग्य से कभी स्कूलों के इन्सपेक्टर महोदय का हमारे नगर मे दौरा हुआ। इन्सपेक्टर पिताजी के एक मित्र के घनिष्ट मित्र थे और हमारे नगर में वह उन्हीं के मकान पर आकर ठहरे। पिताजी अपने मित्र से प्रबन्ध करके मुझसे बोले "आज शाम को इंस्पेक्टर साहब से मिलने चलना है। कपड़े-लत्ते ठीक पहनना और बातचीत ढंग से करना।"

मैंने कहा, "कपड़े तो ठीक ही पहिनता हूँ, और बात-चीत जैसी करता हूँ वैसी ही कर सकूँगा। किसी तरह का झूँठ न बोल सकूँगा।"

पिताजी ने जोर से अपने सिर में हाथ मारा और कहा, "यह खुद तो डूबेगा ही मगर हम को भी साथ में डुबाएगा।" फिर एक क्षण बाद—"मैं क्या इंस्पेक्टर साहब को तुम्हारा चेला बनाने के लिए तुम्हें उनके पास ले जारहा हूँ।"

मैं नहीं समझ सका कि क्या करूँ । माता खड़ी थीं । धीरे से मुझे अपनी तरफ़ को करके बोलीं, "इस समय इनका जी खुश करने के लिए ये जैसा कहें वैसा करले । इनकी तबियत खराब हो जाएगी ।"

माताजी के अन्तिम वाक्य में भावुक कर्तव्य की पुकार थी । पिताजी उन दिनों रुग्ण रहा करते थे, और मेरे संबंध की चिन्ता से उनका स्वास्थ्य शायद और अधिक खराब रहने लगा होगा । माताजी मेरे असामंजस्य को ताड़ कर झट उधर पिताजी से कह उठीं, "तुम तो झूठ-मूठ में गुस्सा करने लगते हो । वह कुछ कह रहा है क्या ? कह देगा जैसे बतावोगे वैसे ही ।"

"यह अपने मुँह से मजूर भी तो करे ।" पिताजी ने मेरी ओर देखते हुए कहा ।

मेरी दबी जुबान से भी, अवश, निकल गया, आप जैसे कहेंगे वैसे करूँगा"

इंस्पेक्टर साहब की मुझसे तो थोड़ी ही बातें हुई और मेरे झूठ बोलने का भी कोई अवसर न आया । परन्तु झूठ बोलना या झूठ न बोलना स्वयं कोई चीज़ नहीं है । कोई भी भलाई या बुराई कर्म रूप में न भली है न बुरी; भली या बुरी जो वस्तु है वह उसकी भावना या संकल्प है । मैंने झूठ बोलने का मन में एक बार विचार कर लिया था; यदि बुराई थी तो बस यही । जो अपराध कि मैंने अपने फोर्थ इयर के सहपाठी से एक निर्दोष झूठ बोल कर किया उससे कहीं गुरुतर अपराध आज झूठ न बोलने पर भी

-मुझसे होगया, जिसने अन्ततः मेरे समस्त जीवन के स्वरूप को बदल दिया।

इस अभिष्याभाषण के बाद ही मैंने देखा कि मेरी साधना में धीरे-धीरे शिथिलता आने लगी है। विचार-पद्धति भी धीरे-धीरे बदलने लगी। मन तो परम शक्तिमान् है न। वह जिस बात को चाहे उसे ही सत्य स्थिर कर सकता है, जिसे चाहे उसे असत्य। फिर तो मैं पढ़ने गया और एक यूनिवर्सिटी-विद्यार्थी के ही ठाठ से। इस समय यह विचार कभी नहीं हुआ कि 'फिफ्थ इयर फ़ूल' भी कोई हो सकता है। मन ने अपने समाधान बना लिए थे और उन समाधानों की भ्रान्ति में मैं अभी भी जैसे साधक ही बना हुआ था। इस साधना और समाधान की भ्रान्ति में मैंने अपने पिताजी को भी धोखा दिया। पिताजी ने मुझे लिखा था किसी 'कम्पिटीटिव' परीक्षा की तैयारी करने के लिए। मेरा मन तो पढ़ने पर लगा हुआ था। अतः उनके मन को कष्ट न देने के उद्देश्य से मैंने उन्हें स्वीकारात्मक उत्तर तो दे दिया, परन्तु तैयारी कभी कोई नहीं की। पिता को कष्ट न देने और सत्य बोलने के दो विरोधी कर्तव्यों में पिता को कष्ट न देने का ही कर्तव्य गुरुतर मालूम हुआ। आज भी, इतने वर्षों बाद मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूं कि क्या वास्तव में वह मेरा गुरुतर कर्तव्य नहीं था!

परन्तु आज तो मैं अपने में सब कुछ ही बदला हुआ पाता हूँ। और जब धीरे-धीरे अपने ह्रास अथवा विकास को भिन्न-भिन्न सरायियों पर गौर करता हूँ तो जीवन का एक

अद्‌भुत ही दृष्टिकोण मेरे सामने खुल जाता है और मैं सोचता हूँ कि मैं कौन हूँ और क्या हूँ । और मैं देखता हूँ कि मैं जो तब था वही अब भी हूँ और जो अब हूँ वही तब भी था। उस समय भी सत्य था और अब भी सत्य हूँ।

परन्तु यह एक लम्बी बात है ……… ।

—·—
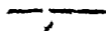
दिल्ली देखी

नवागन्तुक ने दिल्ली देखी ।

बहुत कुछ देखा और कुछ भी नहीं देखा । मुग़लों का ज़माना गुज़रे कितने सौ बरस बीते । उनके वैभव के उपन्यास दिल्ली की प्रशंसा करते हुए थिरकते हैं । पर जिस दिल्ली का स्वप्न उनमें भरा है वह देखने को नहीं मिली ।

उसकी कामना ही क्यों हो ? यह सदी बीसवीं है और सभ्यता की शायद चालीसवीं पीढ़ी । बीसवीं सदी पीढ़ी को नहीं मानता । पर हिन्दुस्तान के हिन्दुस्तानी पीढ़ियों के दाय को अभी भी मानते आ रहे हैं । सो, दो तरह की चीज़ों की यहां अच्छी सी खिचड़ी भी दिखाई दी ।

रेल में ही बैठे-बैठे यमुना के दर्शन भी कर लिए । यह रुद्ध-बद्ध तपस्विनी सी, लौह-खम्भों के बन्धन में सिकुड़ी हुई सी, बिखरी हुई सी, लीलापुरुषोत्तम कालिन्दी ही है क्या ? जिसकी विश्रम्भरता में, अभी हाल में ही, शाहजहाँ ने भी अपनी परम 'प्रियतमा की स्मृति को अनन्त समय के लिए सौंप दिया है । रेल के पुल के नीचे आज वहाँ धोबी-धोबिनियों का चीर-मर्दन देखने में आ रहा है ।

पुल के दूसरी ओर किसी ने दिखा दिया—"यह मुग़लों का क़िला है।" सच ? क़िला देख कर भी पता नहीं चल सका कि क़िला क्या होता है। वहाँ न मुग़ल दिखाई दिए, न क़िला दिखाई दिया। नवागन्तुक ने एक मिनट उन मोटी, निर्जीव, निरीह, दीन दीवारों की ओर देख कर उत्तर दिया—"तुम भूलते हो। यह क़िला नहीं, मुग़लों की समाधि होगी।"

दिल्ली का स्टेशन तो अभी आया भी नहीं, पर एक होटल-गाइड महोदय आगए। 'दिल्ली में कहाँ ठहरेंगे ? दिल्ली देखेंगे क्या ?" आगन्तुक ने सोचकर पूछा, "मुग़लों और पाडवों के दिनों में भी आप लोग आगन्तुकों को ऐसी ही सुविधा देते थे क्या ?" गाइड ने जवाब दिया, "पाडवों की दिल्ली ? जी हाँ, वह भी देखिएगा। होटल से ही मोटर मिल जाएगी। आठ आने से चार रुपये तक के कमरे हैं। दोनों प्रकार के भोजन का अलग-अलग प्रबंध है— वैष्णवी और नन-वेजिटेरियन।"

दिल्ली का स्टेशन आने से पहले ही भूमाता को बाँधने-वाली लम्बी-लम्बी ज़ंजीरें दृष्टिप्रसार के छोर तक इस तरह देखलीं कि विश्वास होगया कि गदर क्यों हुआ था। जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक लम्बी-लम्बी लौह-रज्जुओं को छोड़ दृष्टि और किसी वस्तु पर पड़ती ही न थी। उन्हें देख सीधी तरह यह मान लेना सहज प्रतीत होता था कि शायद अब धरा का बाँधनेवालों से छुटकारा पाना कठिन ही है। और दिल्ली राजधानी है—धरा की प्राण ! राजधानी को इस तरह बाँध रख की तत्परता सिकन्दर ने और नैपोलियन

में भी अवश्य रही होगी।

राजधानी के स्टेशन पर प्लैटफार्मों का जमाव था। "मेरे स्वागत के लिए ऐसी तैयारी!' आगन्तुक ने सोचा और सोचा कि क्या मुग़लों और पाडवों ने भी आगन्तुकों का ऐसा स्वागत किया होगा। कुली दौड़ रहे थे—नहीं, प्रतीक्षा की उत्सुकता में गज़-गज़ पर मिलिटरी तत्परता से खड़े थे कि, न मालूम, कहाँ आगन्तुक की सवारी उतरे। अन्यत्र बहुत से सफ़ेद-पोश लोग व्यस्तता से इधर-उधर दौड़ रहे थे। वे शायद आगन्तुक की ही हैसियत के, समकोटि, सरदार थे जो राजधानी की आज्ञा से आगन्तुक के स्वागत-प्रबन्ध में अपने काम से काम रखते थे। और सब से अधिक तत्परता था होटल-गाइड। दिल्ली के किस प्राचीन गौरव-युग में थर्ड क्लास के यात्री का भला ऐसा ध्यान रक्खा जाता होगा! यह तो आगन्तुक को गाड़ी से उतरने पर मालूम हुआ कि थर्ड-क्लास वालों के लिए भी धूप और वर्षा से हुआ बचने के लिये टीन की खूँटदार छत ऊपर बनवाई गई है।

स्टेशन से बाहर निकलते ही चौड़ी सड़क पर दृष्टि पड़ी तो उसकी आँखें खुल गईं। ऊँचे ऊँचे होटलों की पंक्तियों के सामने आने पर उसे सन्देह हुआ कि दिल्ली में तमाम होटल ही होटल हैं क्या? उसे इतना कभी न चढ़ना पड़ा होगा। गाइड साहब के तत्वावधान में तीसरी मंजिल तक पहुँचते पहुँचते उसका दम फूल गया। जल्दी से सड़क की ओर का एक कमरा तय कर वह बरामदे में कुर्सी पर बैठकर लम्बी साँस लेने लगा। साधारण आराम का

बंध करने के लिए एक नौकर को दिखा कर गाइड तो चला गया और आगन्तुक को आश्चर्य हुआ कि आज दिल्ली में तीसरे दर्जे के यात्रियों की भी कैसी खातिर होती है। उसके नीचे चौड़ी-चौड़ी सड़कों वाली दिल्ली सरसराती मोटरों और सनसनाती रेलगाड़ियों का अभिनय दिखाती हुई उसके मन में तिमंज़िले मञ्च पर बैठे हुए मुगल बाद-शाह का सा भाव पैदा करने लगी।

फिर नवागन्तुक ने दिल्ली देखी। होटल का नाम अच्छी तरह याद कर के वह सन्ध्या होने से पहिले शहर घूमने निकला। ओःहो-आ! कैसी भीड़ है फ़तहपुरी की नुक्कड़ पर। एक फुटपाथ पर खड़ा हो कर वह तो कुछ देर तक देखता और सोचता ही रहा............बेचारी बैल गाड़ी और ऊँटगाड़ी तो बूढ़ी हो गई हैं और इसलिए शायद बाहर निकलने का साहस ही नहीं करतीं। अधेड़ इक्का भी अपने अल्हड़-झल्हड़ तामझाम को लेकर सूरत दिखाने में कदाचित् झेंपता है। उसने अपना स्थान नौजवान ताँगे को दे रक्खा है जो इठलाती मोटरों और गड़गड़ाती ट्रामों को ज़रा-ज़रा दूर पर सलामी देता चलता है। और मोटरें और ट्रामें, उसकी तरफ मानों होठ बिचका कर, सर्र से चली जाती हैं—जैसे किसी आशावादी नौज-वान की उमगें हों। इनके बीच में साइकिल लचकती, मचकती, बल खाती हुई सरकस की कलाबाज़ी दिखाती चलती हैं। उसके हृदय में ऐंठन होती होगी और इच्छा उठती होगी कि मैं भी मोटर ही क्यों न हुई।

गरीब पैदलों की तो बात ही न पूछो। उन्हें एक फुटपाथ से दूसरे फुटपाथ जाना बरसाती गंगा पार करना है। मोटरों, ताँगों और साइकिलों की बाढ़ में ट्रामें भँवर हैं। आगन्तुक भी तो पैदल ही था, और अनभ्यस्त था। उसे फुटपाथ पर ही आगे बढ़ना दुर्लभ था, सड़क तो कैसे पार होगी! नवागन्तुक सोचने लगा—"यह कैसी दिल्ली है; लोग यहाँ कैसे रहते और चलते-फिरते हैं?" उसे सन्तोष हुआ तो केवल फ़तहपुरी बाज़ार के विश्वबन्धुत्व पर, जहाँ एक ही स्थान पर शराबवाले, सोडावाले, मिठाई-पूरीवाले, फलवाले, पानवाले, चायवाले, किताबवाले और रज़ाई तकिएवाले की दूकानें आस-पास सजी हुई थीं। अवश्य आगन्तुक को वारिसी में एक ही जगह बैठ कर शराब सोडा-भोजन-फल-पान पी खा सकने का सौभाग्य मिल सकेगा। और रात में सिर के नीचे लगाने के लिए तकिया भी वहीं से उठा ले जाएगा।—चाहे तो उस तकिए के सहारे पढ़ने के लिए एक दिल्ली का नाविल (या अपने दिल्ली के संस्कारों को नोटबद्ध करने के लिए पेन्सिल-कागज़ भी) ले जाए।

आगे बढ़ने का सहसा साहस न कर सकने के कारण, उसने घूम कर एक करारा पान लिया, और फिर घूम कर कागज़-किताब वाले के यहाँ दो मिनट समीक्षा कर एक पतली सी नोट-बुक और एक मोटी-सी पेंसिल खरीदी। और दूकान पर ही बैठ कर पेंसिल बनाई और नोटबुक पर यात्रा का हिसाब लिखा। इतने ही में उसके भाग्य से वहाँ ट्राम

आकर रुकी। आगन्तुक लपक कर ट्राम में बैठ गया।

ट्रामगाड़ी छूटने पर ट्राम के टिकट-व्यवसायी ने उसके समने पैसों के लिए हाथ बढ़ाते हुए उससे पूछा, "कहाँ जाइएगा?" आगन्तुक ने कहा, "कहीं भी नहीं मैं तो दिल्ली देखने आया हूँ। ट्राम कहा जायगी?" "जामामसजिद तक।" "मुगलों की जामा-मसजिद? मैं वहीं जाऊँगा।"

ट्राम दिल्ली को चीरती हुई, मोटरों और ताँगों का अपमान करती हुई चली। आगन्तुक दिल्ली का सिनेमा देखता हुआ चला। वह हैरान था कि ट्राम की तेज़ी में इधर देखे या उधर। दोनों और ऊँचे ऊँचे भवनों के नीचे बड़ी-बड़ी दूकानें उसकी कल्पना को तुच्छ और कौतूहल को विशाल बना रही थीं। उसे कौतूहल हुआ कि किसी की जेब में कितने पैसे हों जो यहाँ के फुटपाथों पर चल सके।

पर मुग़लों की जामा मसजिद का दृश्य दूसरा था। जामामसजिद बाहर से प्रभावोत्पादक थी। सड़क बराबर चौड़ी, सीधी, सीढ़ियाँ इतनी दूर तक ऊँची गई थीं कि सीढ़ियों का एक झरना-दिखाई देता था। मसजिद के नीचे छोटे-छोटे बिसातियों की दूक़ानें आगन्तुक को उसके नगर की दूकानों के परिचित स्नेह से बुलाती-सी प्रतीत हुईं। उसने घूम-घामकर एक बनियान और एक दन्त ब्रुश खरीद लिया। सड़क के उस ओर सामने कबाड़ियों का फैलाव दूर तक था, और उनके पीछे एक लम्बा-चौड़ा मैदान था। यहाँ फ़तहपुरी की-सी चिच-पिच न थी और आगन्तुक खुल कर साँस ले रहा था। क्या मालूम, उसकी तबीयत में आया

हो कि, यदि सड़क पर नहीं तो, कबाड़ियों के पीछे मैदान में जाकर एक अच्छी-सी दौड़ तो लगा ही आए। पर वह कबाड़ियों में ही अटक गया। दिल खोल कर उनका सैर की और दो एक पुरानी पत्रिकाओं तथा एक अंग्रेज़ी के नाविल का बस्ता बग़ल में दबा वह वापिस लौटा। अभागे फ़तहपुरी वाले पुस्तक-विक्रेता का भाग्य।

आगन्तुक पैदल ही लौटा। यहीं तो उसे पैदल चलने को ज़रा-सा मिला था। पर दिल्ली में आकर वह बहुश्रुत चाँदनी-चौक को अवश्य देखना चाहता था। किसी ने, पूछने पर, उसे दिशा बतला दी। उसे मालूम हुआ कि वह तो चाँदनी-चौक देख आया है। अच्छा अबकी बार पैदल देखेगा—जैसे भी हो।

चाँदनी-चौक अब जगमगा उठा था, बिजली के प्रकाश से। बिजली के प्रकाश में चमकते हुए दो चार शहर आगन्तुक ने देखे थे, पर दिल्ली जैसा कोई नहीं। दिल्ली जैसे बोल रही थी। अच्छे-अच्छे कपड़े पहने हुए स्त्री-पुरुष फ़ुटपाथों पर इस-तरह टहलते हुए से दूकानों की तरफ़ को देखते चलते थे मानों अपने बाग़ीचे में नई बोई हुई, या फिर अपनी परिचित, प्यारी क्यारियों का निरीक्षण कर रहे हों। अधिक दृष्टि जिन निरीक्षकों पर आगन्तुक की पड़ी वे अप-टु-डेट पोशाक के जवान और नोजवान थे, जो अपने ठाठ में अँग्रजी के हिन्दुस्तानी संस्करण मालूम देते थे। स्त्रियाँ भी जवान या नौजवान ही थीं—तरह-तरह की रंग-बिरंगी साड़ियों में तितली बनी हुई। सीधी-सादी

बनियाशाही पोशाक में, अथवा हिन्दुस्तानी ढंग के सिलबिल सूटों में, कोई-कोई अधेड़ या बूढ़े भी दिखाई दे गए। पर किसी भी परिधान में बूढ़ी एक भी दिखाई नहीं दी।

क्यारियों के माली अपनी-अपनी सेवा में तत्पर थे, कोई अपनी क्यारियों के भीतर निरिक्षकों को अपने कर्तव का प्रमाण दे रहे थे, कोई क्यारी की मेड़ पर खड़े हुए मालिक आने की प्रतिक्षा कर रहे थे, कोई मेड़ पर से अपने मालिकों को पहचानने की चेष्टा में हर किसी को भीतर आमन्त्रित कर रहे थे। सकुते कि-ची हालत में यह सब देखता-दिखाता आगन्तुक भीड़ और गति की प्रेरणा से किसी ऐसे ही श्रद्धालु के सामने क्षमा-भर को ठहर कर भीतर का दृश्य देखने लगा। भीतर कई लोग गाहकों को तरह-तरह की वस्तुएँ दिखा रहे थे। "आइये, आइए, भीतर आकर देखिए—आइए।" श्रद्धालु ने आगन्तुक से प्रार्थना की। आगन्तुक ने जब देखा कि उसकी तरह के भी दो-एक सज्जन भीतर मौजूद हैं तो एक विश्रम्भ का-सा अनुभव करता हुआ केवल कौतूहलवश वह दूकान में प्रविष्ट हो गया। भीतर के एक दूकानदार ने पूछा—फर्माइए, क्या दिखाऊँ?'' आगन्तुक ने सोचा, शायद कुछ बतलाना ही चाहिए, उसके मुँह से निकल गया —"बरसाती।"

कई बरसातियों में से उसने एक बरसाती का मूल्य पूछा उत्तर मिला—''बाईस रुपये।" आगन्तुक ने तो मूल्य सुन कर उसे रख ही दिया। परन्तु दूकानदार के बार-बार आग्रह से उसे कहना पड़ गया। बोला, ''बारह रुपये।"

"बारह रुपये की तो वह यह हमारी खरीद ही है। मगर आपको तो देंगे ही। छै रुपये, तक़दीर हो तो, एक मिनट में कमा सकते हैं। आप ही कल पचास रुपये का सामान खरीदने आएँगे तो छै रुपये मिल जाएँगे।" सारांश यह कि आगन्तुक बारह रुपये की बरसाती खरीद कर दूकान से बाहर निकला।

फुटपाथ पर कुछ क़दम आगे निकल जाने पर एक आवाज़ पीछे से सुनाई दी—"आप ठगे गए।" आगन्तुक ने घूम कर देखा। "आपने इस बरसाती के बहुत दाम दे दिए। अभी-अभी मेरे सामने इसी तरह की बरसाती इस व्यक्ति ने छै रुपये में बेची है।" आगन्तुक को विश्वास न हुआ। पर अन्त में उसने मन को समझाया——"यह दिल्ली है—मुगलों की दिल्ली!"

अब उसकी और अधिक देखने की रुचि न रही। जल्दी से होटल वापिस पहुँच कर वह सो जाना ही चाहता था। उसे चाट से शौक़ था। पर घंटाघर के सामनेवाली चाट की दूकान को देखकर भी वह सीधा ही चला गया। फ़तहपुरी के पास पहुँच कर उसने किसी से पूछा, "फ़तहपुरी कहाँ है?" फ़तहपुरी में होटल की लीक पकड़ कर जब वह शराब-आदि की दूकान से गुज़रा तो शराब और तकिये की क़ीमत पूछने का उसका साहस न हुआ।

२

इसके बाद नवागन्तुक ने नई दिल्ली देखी—जाड़ों में। होटल से ही घंटों के हिसाब से मोटर का प्रबंध कर लिया।

ड्राइवर ने बताया—"देखिए, यह नई एसेम्बली है।—गोल-अद्भुत !" वह, न मालूम, कौन—सा दिन था। पहरेदार ने एक रुपया लेकर भी भीतर से दिखाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। पर आगन्तुक ने बाहर से ही उसे सराह कर पूछा, "यह मय का बनाया हुआ भवन तो है नहीं, शायद इसी की छत चटखी थी न ?'

"यह तो नहीं मालूम, साहब" ड्राइवर ने उत्तर दिया, "चलिए, अब लाट साहब का महल देखिए। ......

"यह देखिए, ये पुराने लाटों की मूर्तियाँ खड़ी हैं ...... और इधर यह लाट साहब रहे। सीढ़ी चढ़कर, चाहें तो, फाटक तक हो आइए। भीतर तो जा नहीं सकेंगे।"

"यहाँ कोई हनुमान्जी का मन्दिर नहीं है ?" आगन्तुक ने पूछा।

"यहाँ ?"

"हाँ क्यों ?...... अरे, तुम कहते तो-एसेम्बली में नहीं जा सकते, लाट साहब में नहीं जा सकते—! मैं कहता हूँ, हनुमान्जी के मन्दिर में जा तो सकते हैं। हनुमान्जी ऐसे बजरङ्गबली हैं कि उनके एक मुष्टि प्रहार से भयंकर से भयंकर आततायी और अत्याचारी क्षण-भर में धूलिसात् हो जाते हैं। वह मुझ जैसे किराए के मोटरों में चलनेवालों से डरेंगे कि, उलटे, मेरे भयों को दूर कर देंगे !"

ड्राइवर हँसने लगा और बोला, "हाँ बाबूजी !"

मुगलों और पांडवों की दिल्ली देखने आने-वाला

आगन्तुक अपने तमाम जोश को संगृहीत कर पुनः कहने लगा—'और ये काली-काली पत्थर की मूर्तियाँ खड़ी हैं। इनके नाम भी मुझे-तुम्हें नहीं मालूम। और ये अपनी क्षणभंगुरता के ही अहंकार में जैसे आसमान में उड़ना चाह रही हों। और हनुमानजी तो 'लालदेह,' 'कनकवरन' हैं, और उनकी छोटी-सी मूर्ति में भी पूर्ण 'संकटमोचन' की सामर्थ्य है। छोटी सी मूर्ति धारण कर उन्होंने सुरसा को परास्त किया था—सुना है ?"

ड्राइवर हँसता ही रहा। उसने सुना—बुना कुछ नहीं था। वह सिक्ख था। पर मजबूरी के अतिरिक्त इनाम पाने की लालसा तो उसे ज़रूर ही होगी। सो बोला, "हाँ बाबू साहब, आप ठीक कहते हैं। आपके विचार बहुत ऊँचे हैं। यहाँ तो ज्यादातर लोग यही बाहर की रौनक देख कर चले जाते हैं। ज़रा गाडी में से उतर कर थोड़ा इधर उधर घूमिए न। अच्छा है।"

आगन्तुक ने देखा, अच्छा तो था। सीढ़िया चढ़, क्रम-क्रम से ऊँची होती हुई, लम्बी चबूतरे की सड़क दूर तक गई थी, जिसके दोनों ओर डोली खींची हुई थी। जहा इस चबूतरे का अन्त होता था वहा लाट-भवन का विशाल लौह-द्वार था जिसपर एक अश्वारोही हथियारों से सन्नद्ध, पहरा दे रहा था। बस, यहीं तक आगन्तुक की पहुंच थी—मुल्ला की कहावती दौड़ से भी कम! द्वार के भीतर दूर, एक लम्बी अनुरूप वीथिका थी; जिसके आगे कुछ नहीं दीखता था। आगन्तुक ने कभी कुछ,

रहस्य-वादी कविता पढ़ी थी जिसे वह अभी तक नहीं समझ पाया था। आज समझ सका कि इसी भांति रहस्यवादी पत्थर की मूर्ति और माया के दिखाव में वैकुण्ठवासी रहस्य को ढूँढने की निरन्तर चेष्टा किया करते हैं। जहां आगन्तुक खड़ा था वहां से चबूतरे के सामने की काली मूर्तियां गोल सभा में खड़ी-खड़ी मानों उससे कह रही थीं—"क्षुद्र, उधर क्या देखता है! उसे देखना है तो हम में देख।" आगन्तुक ने जैसे उनकी बात समझ ली। उसने भी सोचा, "हां तो, मैं तो हनुमान्‌जी की ही मूर्ति देखूंगा आज।—नहीं तो कल!"

जब आगन्तुक वापिस मोटर के पास आया तो ड्राइवर ने पूछा, "कहिए, बाबू साहब, कुछ पसन्द आया?"

"हां, भाई, खूब पसन्द आया। कितना रुपया इसमें खर्च हुआ होगा—ऐं! मनुष्य के वैभव और उसके शक्तिप्रेम को देखकर आंखें फटती हैं। सौन्दर्य की भावना में भी दूसरों पर भययुक्त प्रभाव डालने की अहंकार-वृत्ति इस दृश्य की विशेषता है।"

ड्राइवर कनाट-प्लेस आदि दिखाने ले चला। इसी समय बिजली की बत्तियां चमचमा उठीं, मानों रहस्यवादी के लिए प्रकृति का फूल-फूल पत्ता-पत्ता नाच उठा हो। आगन्तुक ने एक बार घूम कर देखा और हाथ जोड़ कर वन्दना की, "हे वैकुण्ठवासी तुमको कोटि-कोटि प्रणाम!" फिर वह वहां की रहस्यमयी प्रकृति का निरीक्षण करता चला।

"यहां कुछ ठंड अधिक है क्या!" उसने ड्राइवर से पूछा।

"जी हां, यहां खुला हुआ है न।" ड्राइवर ने उत्तर दिया।

यमुना का फाट-जैसी चौड़ी सड़कें थीं और सब खाली। कोई इक्के-दुक्के नितान्त साहब, या नितान्त साहबी, लोग ओवरकोट डाटे फुटपाथ पर दिखाई देते थे। कोई एक आध लाख रुपये की कार इधर से उधर और इधर से इधर मराल-गति से आती जाती दृष्टिगत होती जाती थी। तांगे और साइकिल को आगन्तुक ने वहां नहीं देखा। ट्राम को भी नहीं।

आगन्तुक को आश्चर्य हुआ कि नई दिल्ली में कोई भी लोग नहीं रहते क्या और दिल्ली में जनसचार की इतनी दिक्कत जो होती है तो क्यों नहीं कोई ऐसा नियम बना दिया जाता कि दिल्ली के आधे लोग एक दिन और आधे लोग दूसरे दिनावारी-वारी से नई दिल्ली में घूमने आया करें। और क्यों नहीं तांगे वालों और साइकिल वालों को भी यह आदेश कर दिया जाए कि वे शाम को रोज नई दिल्ली में ही दौड़ लगाया करें। इससे नई दिल्ली की वीरानगी भी दूर ही होजायगी और पुरानी दिल्ली को भी कुछ चैन मिलेगा।

जब दूकानें शुरू हुईं तो ड्राइवर ने कहा, "थोड़ा सा पैदल सैर करना चाहें तो कर लीजिये। आगन्तुक ड्राइवर की आज्ञा का पालन किया। पर दूकानों के सामने फुटपाथ पर चलने में वह एक अपराधी की सी मनोवृत्ति का अनुभव करने लगा पुराने फैशन के अपने सड़ियल कोट और पतलून को पहने हुए उसे उन कुबेर-भवनों के सामने घूमने का क्या अधिकार था! निस्सन्देह, यहां की दूकानें कुबेर की एक एक क्रीडास्थली से क्या कम थीं, जिनके भीतर यदि

कोई दिखाई देते थे तो केवल यन्त्र ही यन्त्र। उन दूकानों के ऊपर बने भवन आकाश को तो छूने नहीं जाते थे, परन्तु वे आकाश को ही नीचे उतारते थे। हा यदि एक भी कमरे को देखलो तो दृष्टि फिर उसके बराबर ही बराबर चलती थी आसमान पर नहीं पड़ती थी, आसमान जैसे रहा हो न हो।

एक किताबों की दूकान के पास आगन्तुक की क्षण भर के लिए प्रवृत्ति हुई कि भीतर चले। परन्तु तत्काल ही उसे ध्यान हुआ कि एसेम्बली भवन और लाट मन्दिर की भाँति यहाँ भी किराये के छकड़ो पर आने वालों के लिए रहस्यवादी के कौतूहल का आनन्द ही उचित और पर्याप्त था।

अब आगे एक दूकान के सामने खड़े हुए एक ताँगे पर भी उसकी दृष्टि पड़ गई। आगन्तुक को बड़ा आश्चर्य हुआ। पहले ताँगा दिखाई न देने पर आश्चर्य हुआ था; अब दिखाई देने पर हुआ। कुछ और आगे सड़क के बीच एक हिलती हुई गठरी का सा भ्रम हुआ। जब उसके बराबर में पहुँचा तो आगन्तुक को मालूम हुआ कि वह एक मेहतर की मूर्ति है जो सड़क पर घोड़े की लीद खुरच रही है और फटे हुए अर्द्धाच्छादन में अपने दाँत किटकिटा रही है। आगन्तुक ठिठक रहा। उसने स्वयं ठंड के निवारण के लिए काफी कपड़े पहन रक्खे थे, और फिर भी उसे सरदी सता रही थी।

और आगन्तुक खड़ा देखता रहा, जब तक कि मेहतर ने भूमि को अच्छी तरह खुरच-खुरच कर खूब साफ़ न कर दिया। जब मेहतर उठने को हुआ तो उसके पास जाकर चुपके से—नई दिल्ली के उस सप्रभाव वातावरण में कोर से

खोलते हुए जैसे वह डरा हो—आगन्तुक ने उससे कहा, "यह लो, कल कुछ अपने लिए कपड़ा बनवा लेना।"

इसके बाद नवगन्तुक फिर फुट—पाथ पर आकर खड़ा-खड़ा उस मेहतर के पीछे देखता रहता है। जब से वह दिल्ली में आया है तब से अनेक बार उसने आँखें खोली हैं। अभी थोड़ी ही देर पहले वैभव के इस जगमगाते स्थल में उसने खूब ही आँखें खोल कर देखा था तथा ऐश्वर्य की सत्ता और शक्ति को स्वीकार करते हुए सोचा था कि यहाँ कौन सुखी न होगा। पर पूस के जाड़ों की इस सन्ध्या में, चमचम प्रकाश की दिनकरी ज्योति में चमकती हुई चिकनी सड़कों को खुरचते चुरडते हुए एक चिथड़हे मेहतर को सी-सी करते देख उसे एकबार फिर आँखें खोलनी पड़ती हैं और वह आश्चर्य तथा ग्लानि से स्तम्भित होकर कहता है—"अरे! नई दिल्ली में भी यह है! अरे, अरबों की रंगीन कैंगल के भीतर भी बालू की कच्ची भीत ही भरी है क्या? इस प्लास्टर द्वारा भी वास्तविक भीतरी जीवन के हाहाकार को आनन्द की मुसकान नहीं बनाया जासका....? अथवा हाँ, उस हाहाकार की नींव पर ही तो नई दिल्ली का यह हःहःकार खड़ा हुआ है। देश में यदि ऐसे असंख्य अभागे न होते तो नई दिल्ली भी क्या होसकती थी?-ऐसी लासानी-ठुकराने योग्य टूटे झोंपड़ों और लीद में रेंगते हुए कीड़ों की आँखें मीचकर देखती हुई......!

आगे चौराहे पर उसकी मोटर खड़ी थी, आगन्तुक ने चुपचाप उसमें बैठकर कहा, "होटल वापिस।"

अज्ञात अतिथि

सुना है कि 'हनूज़ दिल्ली दूरस्त''; और कदाचित् इसका सबसे बढ़िया अनुभव उस नवयुवक को हो रहा है जो किसी तरफ़ चल नहीं रहा है और रेलवे स्टेशन के किसी अनभिनन्दनीय स्थान में एक टूटी-सी परित्यक्ता, मेज़रूपा पर, हाथ पर हाथ धरे, अधर बैठा है। बैशाखी, जिसे ग्रीष्म की जलती हुई धूप में सुदूर रेलवे स्टेशन की नियमित सैर को जाने का कभी कोई चाव नहीं रहा, उस रोज़ किसी निरर्थक प्रसंग से स्टेशन पहुँच जाता है और आवारागर्दी में नवागन्तुक के पास जाकर दो-एक बातें करता है।

"देख रे भाई, तुझे हरेक काम करना पड़ेगा और खाना-खुराक और पाँच रुपये मिल जाएँगे। मंजूर हो तो चल मेरे साथ।" बैशाखी कहता है।

"मुझे तुम चार ही रुपये, दो ही रुपये, और रोटी दे देना और मैं तुम्हारी गुलामी करता रहूँगा।" युवक एक लम्बी आह खींच कर उत्तर देता है।

युवक उस रोज़ ही सुबह की गाड़ी से उतरा था और उसे पता नहीं था कि कहाँ जाए। उसकी जेब में कुल

दस-बारह आने पैसे थे। सामान कुछ नहीं था। शरीर पर केवल एक खद्दर का कुर्ता।

यह आश्रयविहीन युवक मेरे पास लाया जाता है। बैसाखी मेरा पड़ोसी है और वह जानता है कि आजकल मुझे एक नौकर की कितनी बड़ी आवश्यकता है। अधिकांश नौकर रखनेवालों की भाँति—और बहुत कुछ मेरी भाँति भी, क्योंकि मुझे अपने जीवन में 'मृगमुख व्याघ्रों' का पर्याप्त अनुभव करना पड़ा है—मैं नवागत व्यक्ति को सन्दिग्ध दृष्टि से देखता हूँ, और फिर उससे उसके घर-बार, माँ-बाप आदि की बात पूछता हूँ। उसकी कहानी है कि—

वह एक उच्चकुल-प्रसूत ब्राह्मण कुमार है। उसका पिता, जो संस्कृत का एक अच्छा विद्वान् था और खाने-पीने से अच्छा था, किन्हीं परिस्थितियों के फेर में एक दम धन संपत्ति-विहीन हो गया और तदन्तर, एक साल बाद ही, अपने पुत्र को पितृ-हीन कर गया। उस समय पुत्र राँची के एक विद्यालय में 'मध्यमा' परीक्षा के लिए अध्ययन कर रहा था। परन्तु पिता के स्वर्गमन के बाद ही उसे अपना विद्याभ्यास छोड़ देना पड़ा। तब से, साल भर से अधिक हुआ, वह बराबर इधर उधर भटक रहा है—जहाँ कहीं भी आशा की झलक दिखाई देती है। परन्तु उसे मिलती है सदा ही मृगतृष्णिका। उसकी सम्पन्न सगी बहन भी उसे अपनी ड्योढ़ी पर नहीं आने देना चाहती कि कहीं वह कुछ माँगने न लगे। वह इतना अभागा है कि संख्या तक उसकी सहायता न कर सका; और अब वह एक बे-पर पक्षी की

भाँति यहाँ फेंक दिया गया है-घर से हजार मील दूर—जहाँ कि कोई एक सुदूर सम्बन्धी उसे बुला तो लेता है, पर स्टेशन पर उसकी खबर पूछने भी नहीं आता।

अवश्य ही यह सारी कथा बड़ी करुणाजनक है—विशेषतः जब कि वह बार-बार आँखों के पानी से भिगो कर सुनाई जाती है और जब कि कहनेवाले की मुखाकृति भी उसके दुख-दर्द का साक्षी भरती है। पूरी कहानी सुन चुकने के बाद मैं चुप रहता हूँ। मेरे सामने एक समस्या उपस्थित होजाती है-मैं इस मनुष्य का क्या उपयोग कर सकता हूँ? इसमें तो मुझे अब सन्देह नहीं रहा कि मैं उसे एक घरेलू नौकर-अर्थात् पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर—बनाकर नहीं रख सकता हूँ। और भी किसी प्रकार का नौकर शायद उसे नहीं बना सकता; क्योंकि भिश्ती-खर आदि के अतिरिक्त और किसी प्रकार के नौकर का मासिक मूल्य पाँच रुपये से कहीं अधिक है। स्वयं अपने जीवन में कितनी ही बार, जब कि किसी प्रकार की आगामी आशंका से मैं विचलित हो उठा था, मैंने कातर बन कर ईश्वर के सामने घुटने टेके हैं और कहा है, "नाथ! भले ही मुझे तुम ऊँचा न उठाओ। आसमान पर चढ़ने की मेरी वासना भी नहीं है। पर यदि तुम्हारी अत्यन्त दया हो और तुम मुझे उठाओ ही, तो, हे प्रभो! मुझे नीचे मत गिराना—नीचे कभी मत गिराना।" ऊपर न उठ सकने में असन्तोष का ही दुःख है, परन्तु अपनी स्थिति से गिरने की वेदना तो असह्य होती होगी। इस स्थान परिभ्रष्ट नवागत ने अच्छे

दिन देखे थे, भविष्य के कुछ हौसले भी उसके रहे होंगे। उसकी वर्तमान परिस्थिति के कलंक और अभिशाप की निष्ठुरता का उसी के सुकुमार हृदय को छोड़ दूसरा किसका सुहृदय ठीक ठीक अनुभव कर सकता है। संखिये का प्रयत्न ही इसका साक्षी है।

मेरी कर्मविमूढ़ता की तात्कालिक अवस्था में विशाल मनवता के तीन विशाल दिग्गाल पथ-प्रदर्शन के लिए मेरे भीतर से पुकारते हैं। मानवप्रेम से आतुर भावुक-दल कहता है मुसीबत की मारी एक अभागी मानव सन्तान के प्रति तुम्हारा, व्यवहारिक-बुद्धि ही क्यों, इस प्रकार स्वार्थी होना क्या तुम्हें मनुष्य बनाता है ? याद करो, तुम्हारे सामने भी कभी-कभी कठिनाइयाँ आई हैं और तुम्हें उस समय मिलते हुए लोगों के व्यवहार से कितनी खिन्नता हुई है ? फिर भी तुम कुछ भाग्यवान थे, अन्यथा, तुम सोचो कि निगल जाने के लिए उत्सुक, मुँह फाड़ कर दाँत दिखाती हुई, कुवेर-पुरियों की दुर्गन्ध-पूर्ण गलियों में दर-दर ठुकराये जाने के लिए फेंक दिया जाना क्या तुम पसन्द करते ? इस समय तुमको अवसर मिला है कि दूसरों को दिखा सको कि तुम दुनिया से क्या पाने योग्य हो।"

इसके विपरीत आजकल के सुधारक-पेशा सज्जन निषेध की ऊँगली दिखाते हैं और अनुशासन के ढंग पर विवेकहीन भिक्षादान पर भाष्य करते हुए उच्चघोष से ललकारते हैं—"दो, दो, अवश्य दो—देने को कोई मना नहीं करता। परन्तु तुम्हें क्या अधिकार है कि ईश्वर की एक सन्तान

को भिखमँगा बनाओ ! देश में क्या अभी काफ़ी भिखमँगे नहीं हैं ?—अधिकांश ऐसे कि जो शरीर से हट्टे-कट्टे हैं और हरामख़ोरी तथा परधन-तृष्णा ही जिनका एकमात्र जीवन लक्ष्य है । कबीर का एक पद सुनाने वाले गलिहारे महात्माओं से लगाकर राजाओं तक को ख़रीद सकने वाले, और विलासिता । तथा पाप में भी उनसे चार क़दम आगे चलने वाले, मठाधीशों तक हमने भिक्षुकवर्ग की एक ऐसी कलंक-परम्परा बना रक्खी है जिसने देश का अधिकांश धन हड़प रक्खा है । ये सब लोग यदि इंग्लैण्ड अमरीका या कालेपानी भेजे जा सकें तो अपने को मनुष्यता के लिए कितना उपयोगी बना सकें । परन्तु हमारी दानशीलता ने इन्हें पशु बना रक्खा है और इनके द्वारा भारत जैसे सुनहरी पुण्य देश को अधोगर्त में पटक दिया है।"

बहुत ठीक ! बेशक ! क्षण भर के लिए मुझे प्रतीत होता है कि भावुकों के ऊपर सुधारकों का यह आक्रमण बिलकुल उचित है । परन्तु मुझे तो ये दोनों ही कोई स्पष्ट मार्ग नहीं बता सके । मैं उलटा और अधिक भ्रम में पड़ गया । मुझे स्वीकार है कि किसी विपन्न व्यक्ति को निर्ममता से ठुकरा देना पैशाचिक कर्म है । मैं यह भी मानता हूँ कि किसी की मानवता को भिक्षावृत्ति में भ्रष्ट करना दो-गुना पैशाचिक काम है और देशद्रोह है । भिक्षावृत्ति मनुष्य के अपकर्ष की चरमगति है और यदि, मेरी सामर्थ्य हो तो, सबसे पहले मैं इस व्याधि को देश और व्यक्ति से बहिष्कृत करा दूँ । परन्तु, साथ ही, क्या मैं उसके स्थान में चोरों

और लुटेरों और आत्मघातकों और परघातकों की संख्या बढाने के लिऐ भी तैयार हूँगा ! सचमुच, मेरी समझ में कुछ नहीं आता—कोई रास्ता नहीं दीखता। ये इतने-इतने भावुक शिरोमणि और सुधार-धुरन्धर महानुभाव इस बच्चे की ही खातिर से आपस में कोई समझौता क्यों नहीं कर लेते—मैं जानना चाहता हूँ।

इस समय एक तीसरे दिग्गज मुझे समझाते हैं। ये व्यवहारिक सम्भाव्यता के अन्वीक्षक; आचारपटु, दुनिया-देखे लोकर्षि हैं; जिनके पास सब समस्याओं का सरल समाधान है, और सबके लिये सहज सान्त्वना है। सुविधा के अनुसार इनकी पैनी दृष्टि पर्दे को चीर कर आकाश के ग्रहों को खींच लाती है और उनकी युक्ति में उन लोगों के लिए लानत भरी रहती है जो भाग्य की क्रिया-प्रणाली में हस्तक्षेप करना चाहते हैं। यदि किसी व्यक्ति के भाग्य में भीख मागना और ठोकरें खाना ही लिखा है तो मनुष्य जाति की यह शक्ति है क्या कि वह उसे सुखी बना सके ! ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, और अमुक व्यक्ति का भाग्य यदि ऐसा या वैसा है तो उसका कोई कारण अवश्य है। कारण हो और कार्य न हो—यह हो ही नहीं सकता।

इनका कहना भी ठीक है। और मैं सोचता हूँ कि इसका भी कोई कारण अवश्य है कि यह व्यक्ति हजार कोस से मेरे ही पास आया। और इसका मेरे पास आना किसी अज्ञात भावी कार्य का कारण भी होगा ही। क्या वास्तव में

विधि-विधान या भाग्य की ही यह भी एक क्रिया नहीं है कि दुनिया के समस्त स्थानों को छोड़ कर इस नगर के स्टेशन की एक टूटी मेज़ पर ही एक कटे हुए पतंग की भांति वैशाखी के हाथों के लिए वह आ गिरता है ? क्या तुम्हारा सारा विज्ञान और दर्शनशास्त्र मिल कर भी उन असंख्यनाम सान्निपातिक संयोगों के रहस्य को ज़रा सा भी समझने समझाने की सामर्थ्य रखता है, जिनकी शक्ति-प्रेरणा से इस अकल्पित आगमन की घटना घटित हुई है ?

मेरा भाग्यवादियों से कोई विरोध नहीं और न किसी अन्यवादी से ही। मैं उदार भावनाओं से प्रकम्पित होता हूँ और स्वास्थ्यकर सुधार का आदर करता हूँ। भाग्य और विधि में भी मेरा विश्वास है। परन्तु किसी तरह मुझे ऐसा सन्देह होता है कि कहीं न कहीं कोई अति सूक्ष्म मर्मतत्व इन तीनों बुद्धिमानों की दृष्टि से छूट गया है। मैं कुछ भी न करूँ, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। या तो मैं इस नवयुवक को दुत्कार ही दूँ या उसे रख ही लूँ। दोनों ही परिस्थितियों में एक कर्म का उत्तरदायी बन जाता हूँ। भावुकों और सुधारकों ने तो मेरी कर्तव्य-बुद्धि को जगाने के भर का अनुग्रह कर अपना कर्तव्य निभा लिया, और भाग्यवादी सज्जन ने केवल उस लड़के के भाग्य का ही दृष्टिकोण अपने सामने रख मेरी बौद्धिक चेतना को अपनी समीक्षा का योग्य विषय नहीं समझा।

भारतवर्ष में न जाने कितनी शताब्दियों से हृदयवादियों, सुधारवादियों और भाग्यवादियों के दल आपस में लड़ते रहे

हैं। और उन सब की अवहेलना करती हुई, यह संसृति बराबर अपनी गति से चलती रही है—ठीक जैसे कि वह उनसे दो हजार वर्ष पहले भी चलती रही थी। और शायद इसी तरह चलती भी रहेगी। उसमें, किसी के करने से, न कभी कोई विशेष सुधार हुआ है, न कभी कोई विशेष बिगाड़। राजनैतिक उलट-पुलट, जीवन संग्राम के द्वन्द, और तद्धेतुकी मनोवैज्ञानिक लोकव्यवस्था तथा पारस्परिक आचारण के समायोग आदि का निरन्तर-प्रवाह—उसी को चाहो तो विधान कहलो—अनन्त काल से चलता रहा है। और इस के बीच में व्यक्ति भी अपना काम करता ही चलता है। यथार्थ में व्यक्ति ही, जिस पर कोई भार आकर पड़ता है, अपना सूत्रधार और अपना पथ प्रदर्शक है। उसका अपने आपको पथप्रदर्शन कहाँ तक उचित और कहां तक अनुचित होता है, यह केवल अपेक्षा का प्रश्न है। और उस अपेक्षा का निर्णय करने की भी किसी दूसरे व्यक्ति की योग्यता नहीं है। परिणाम को देखकर हम अवश्य इस अपेक्षा का मूल्य आँकना चाहते हैं। यह भी कहाँ तक ठीक है, मैं नहीं कह सकता।

कह सकता तो मैं केवल इतना ही हूँ कि जब भिन्न-भिन्न प्रकार के वादियों से मेरा काम न चलता तो मैं स्वयं आत्मवादी बन गया। मैंने उस नवागत को अपने यहाँ ठहराने का निश्चय कर लिया—एक क्षुद्रकर्मकर (menial servant) या यत्किञ्चितकर्म कर भृत्य की भांति नहीं, बल्कि मेरे सहायक सचिव अथवा—"उप" की भांति; यद्यपि

मैं यह अभी तक नहीं जान सका हूँ कि मुझे किस काम में उसकी सहायता की आवश्यकता थी। मैंने उससे यही कहा- "आप ब्राह्मण हैं, पढे लिखे हैं; इसलिये आप यहाँ रहें और जिस किसी बात में आप हमारी सहायता कर सकें उसमें सहायता करें। फिर, जब भी आपको कहीं अच्छा संयोग दिखाई दे, आप यहाँ से जा सकते हैं।"

उसका नाम कुछ था, कुछ ऐसा-वैसा ही, राका-शशि की याद दिलाने वाला सा, जिससे विनोदित होकर मैंने अपनी ओर से उसका नाम करण कर दिया-राकेन्दुचन्द्र-शशिरजनीरञ्जन शर्मा। राकेन्दु को मेरे कथन से सन्देह हुआ कि, जब कोई काम नहीं बतलाया है तो, महीने के अन्त में उसे पाँच रुपये भी दूँगा या नहीं। और उसने इस सन्देह को बेसाखी के सामने भी रक्खा, और इसी सन्देह की धारणा से वह, दिन भर कुछ न करता हुआ भी, हर समय कुछ न कुछ करता ही रहता था, जिससे पाँच रुपये का अपने को अधिकारी समझ सके।

इस तरह मैंने अपनी समस्या का हल कर लिया, परन्तु दिग्गजों को मैं फिर भी शान्त न कर सका। अपने उपदेशों को खोया देख, पाँच-छै रोज बाद उनमें से अन्तिम दो ने क्रमशः मेरी माता पत्नी का रूप धारण किया। बात यह थी कि माताजी को राकेन्दु-रञ्जन के लिए रोटियाँ बनानी पड़ती थीं और पत्नी को अपने पति के पसीने की कमाई का बड़ा ध्यान था।

और सचमुच उन दोनों का ध्यान पक्का रहा। मेरे

प्रथम दिन के प्रस्ताव के कारण राकेन्दु शर्मा शायद तभी से किसी अच्छे संयोग की तलाश में रहा होगा। उसके अध्यवसाय का सुफल यह हुआ कि मेरे यहाँ रहते हुए एक महीना होने से काफ़ी पहले ही उसे एक बड़ा बढ़ा अच्छा संयोग मिल भी गया। एक दिन जब हम सोकर जागे तो देखा कि श्री राकापतिचन्द्रेन्दुबिम्बरजनी मोहन शर्मा महोदय मकान में नहीं हैं और मकान का द्वार खुला पड़ा है। कुछ बाद में तो यह भी देखा कि, नकद और सामान मिलाकर, लगभग डेढ़-सौ रुपये भी मकान में नहीं हैं।

कल्पना करना कठिन नहीं है कि इस घटना के बाद मेरी माता और पत्नी और घर के अन्य समझदार लोगों ने मुझे कैसे आड़े-हाथों लिया होगा, मानो मैं ही डेढ-सौ रुपये चुराकर घर से भाग गया होऊँ। कितनी देर तक मैं चुप-चाप सुनता रहा और सुनता रहा—अपराधी तो था ही; पर अन्त में बोला "जो कुछ मैंने किया और जो कुछ हुआ उस पर शायद मुझे खेद है, शायद खेद नहीं है। परन्तु यह जो व्यवहार मेरे साथ किया जा रहा है उस पर निसन्देह मुझे प्रसन्नता नहीं है। मैंने रुपये नहीं चुराए हैं और मैंने किसी को धोखा नहीं दिया है। मैंने धोखा खाया है, जिसका कि मैं अभिमान तो नहीं कर सकता, पर जिसके बारे में यह कह सकता हूँ कि यह न तो पाप है न अपराध। और शायद भविष्य में भी मैं इस तरह के और थोड़े-बहुत धोखे खाने के लिए तयार रहूँगा। यदि इससे, धोखे में ही, एक भी डूबते हुए प्राणी की रक्षा हो सके तो।"

ये लोग नहीं समझ सकते, कभी नहीं, पर वे चुप हो जाते हैं मैं भी कुछ नहीं समझता। शायद वे और ये और मैं, हम सब तब, कुछ समझ सकेंगे जबकि लोकहित के तीनों ठेकेदार आपस में कोई समझौता करना सीख लेंगे। रही बात आवारागर्द नवयुवक की। सो वह तो एक चिरन्तन यथार्थ है। उसने ही इस दुनिया को बनाया है। शायद कभी कोई दुनिया का पुन निर्माण भी कर सके—अपने कर्मो से, शब्दों से नहीं-जब हम सब मनुष्य बनेंगे और दूसरों को भी मनुष्य समझेंगे।

ईश्वर

'सन्' २७ के जून मास का संस्मरण है। तारीख सत्रह।

अपनी तथा परिवार की डेढ़ बरस की बीमारियों तथा पैसे के कौड़ी-कौड़ी अपचय के बाद मन में कभी २ नास्तिकता का आवेश होते रहना किसी के लिए एकान्त अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। दुनिया पर अविश्वास, जीवन पर अविश्वास, ईश्वर पर अविश्वास—परन्तु सबसे अधिक ईश्वर पर अविश्वास—जीवन का अन्तरंग नियम-सा बनने लगता है और फिर सारे ही व्यतीत जीवनकाल की आलोचना-सी होने लगती है। आँखों पर जो चश्मा लगा रहता है उसमें को दीखता है। जैसे समस्त जीवन ही बेकार रहा है—रिक्त, असुखी, दयनीय, । और, दया की जब सब से अधिक आवश्यकता रहती है और लोग शिष्टाचार में सहानुभूति दिखलाते हैं तो उन पर भी झुँझलाहट पैदा होती है और अनुकम्पा की सम्प्राप्ति के लिए अपने ही भंडार में टटोलना पड़ता है। हाँ, अपना भंडार भी खाली ही मिलता है-दर्द होता है कि हमने जन्म ही क्यों लिया और यही अपनी दयनीयता की चरमता है, जिसमें दया नहीं मिलती । और तब हृदय चीत्कार कर उठता है-नहीं,

ईश्वर वीश्वर कहीं नहीं है, कोई नहीं है।

जून सन्' सैंतीस का सत्रहवां दिन भी एक ऐसा ही दिन था जब कि किसी समय ईश्वर विश्व से उठ गया था। आत्मवेदना और परिवेदना की प्रबलता ने अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि यदि ईश्वर होता तो क्या वह किसी की मनोवेदनाओं और परिवेदनाओं से भी निर्बल होता। मुझे ऐसा लगा कि मैंने जीवन में बस एक ही काम किया है— कितना बड़ा काम! मैंने उसको "नास्ति" का फतवा दे दिया जिसने अपनी अनस्तित्ता के बल पर ही विश्व को अनवरत अत्याचार के साथ ऊपर से नीचे तक खूब झकझोरा है। लोगों की जिह्वा पर अधिकार करके उनकी हार्दिक भावना के विरुद्ध उसी ने उनसे 'नेति" कहलाया है जब कि वे "नास्ति' कहना चाहते थे। यदि देखो तो, "नेति नेति क्या नास्ति ही नहीं है। पर वाणी-विकार के साथ ही साथ मानसिक विकार का भी दान पाकर वे लोग "नेति" का अर्थ "अस्ति" समझने लगे और सन्तुष्ट हो गये। अत्याचारी का सबसे बड़ा अत्याचार क्या मिठाई खिलाना ही नहीं है—जैसा कि बहुत सी-सरकारें उपाधि-रस चखा कर किया करती हैं, या प्रत्यक्ष में, हमारे कुछ विद्यालयों के शक्ति-प्राप्त दल करते हैं। पर, मुझे उस 'नास्ति' ने संतुष्टि की मिठाई भी नहीं चखाई।

सत्रह छै' सैंतीस के उस समय परेड पर बैठ कर, सब लोगों से तटस्थ, सड़क के दृश्य या आकाश के बादलों की लीला को देखता हुआ मानों मैं अपनी आँखों से विचार कर

परन्तु सच बात तो यह है कि त्रुटि और अत्रुटि का कोई अर्थ भी मैं नहीं समझ सका हूँ। मुझे कभी-कभी सफलताएँ भी मिली हैं जिनके लिए मैंने कोई उद्योग नहीं किया और जिनमें मैं किसी कृपालु का भी कोई उत्तरदायित्व न देख सका। फिर, दुनिया इतनी जल्दी-जल्दी, बदलती जाती है कि व्यवहार और अभ्रुटि का कोई स्थिर मानदण्ड ही नहीं रह पाता। मेरे पिता और पितामह के आर्थिक व्यवहार प्रायः कागज के बिना ही हो जाया करते थे, क्योंकि वे मित्रों में ही व्यवहार करते थे। पर मैंने अपने अत्यधिक मित्रों को पैसा दिया और हमेशा धोखा खाया। मेरे पिता के पहले जमाने तक के लोग तुम्हारे चरित्र का आदर किया करते थे, अर्थात् वे तुम्हारी वास्तविकता को देखा करते थे। आज के महानुभाव तुम्हारी बोल चाल, चलने-फिरने आदि के ढँग और चाटुकारिता—तुम्हारी कृत्रिमता, छद्म कुशलता—से प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति की व्यवहार-कुशलता दूसरे व्यक्ति की भी व्यवहार कुशलता नहीं बन सकती। जन्म, परिस्थिति, वातावरण, और सबसे अधिक चारित्रिक संस्कार भेद. इसके मुख्य कारण हैं। अन्यथा मैं पूछूँगा कि एक भिस्ती का छोकरा यदि अफ़-निस्तान का बादशाह बन सका तो हमारे इतने सारे वाइस-चाँसलर इग्लैंड के बादशाह क्यों नहीं बन सकते? वे कहेंगे कि उसकी भाँति वे मरना नहीं चाहते। पर बच्चा सक्का मर कर बादशाह नहीं बना था, बादशाह बन कर मरा था। और ईसा मसीह तो मर कर ही बादशाह बना था, जिसका

की प्रतिष्ठा में तो उसे चुप होकर ही बैठ रहना चाहिए, जो उस प्रकृति के विपरीत है। मनुष्य चुप रह कर, अकर्मण्य होकर, नहीं बैठ सकता। भाग्य को मानता हुआ भी यह हाथ पैर हिलाता रहना ही चाहता है...... किसकी आशा में...... किसके बल पर?............

भाग्य को भी जो पीट सके ऐसे आदर्श को वह ढूँढता है—ऐसे आदर्श को जो प्रत्यक्ष न हो। ऐसा आदर्श हो तभी मनुष्य जी सकता है। यदि पशु ऐसा आदर्श नहीं रखते तो वे जीवन के बारे में मनुष्य की भाँति चिन्तित भी नहीं होते।

और आदर्श मिथ्या भी तो नहीं है। सौ रुपये वाले के लिए हजार की सम्भावना हो सकती है, तभी हजार उसका आदर्श है—अरब-खरब उसका आदर्श नहीं। यह संभावना ही हजार का, आदर्श का, सत्य है। हजार मिल भी तो जाते हैं। तब प्रत्यक्ष भाग्यवाले का भी आदर्श— उसे ही परमेश्वर कहते हैं—सत्य की संभावना रखता है। यदि वह सत्य हुआ तो!..... अभी अभी मैंने झूठ सोचा था कि हो सकना उसकी सामर्थ्य में नहीं है।.........

अब मैं डरा, अप्रत्यक्ष ईश्वर सत्य ही हो तो क्या वह मेरी इस 'नास्तिक' भावना से प्रसन्न होगा।

परन्तु मनुष्य का मन एक दुर्व्यसन से कम नहीं है। उसमें 'अस्ति' और 'नास्ति' का द्वन्द्व उठा ही करेगा। और मैं उसमें पिसा करूँगा। क्या करूँ। "यदि ईश्वर हो ही' से ईश्वर सिद्ध नहीं हुआ।

मैं ईश्वर को छोड़ भी नहीं सकता और, बुद्धि से, एकदम स्वीकार भी नहीं कर सकता। पर पिसना भी तो नहीं चाहता, संबल-विहीन होकर! अच्छा, अच्छा, तो, ईश्वर को अनस्तित्व की मैंने अनुमति दी। और अब मैं उसे 'नास्ति' से 'अस्ति' में लाऊँगा। मैं एक ईश्वर का निर्माण करूँगा—अपने ईश्वर का, भले ही वह मेरी जीवनावधि तक ही जी सके। अब तक बहुतों ने ऐसा किया है।—......

२

'दस आठ' सैंतीस।

'सत्रह छै' सैंतीस को अनीश्वरता आसमान में पेंग भर रही थी। वह ईश्वर के जन्म का—नहीं, गर्भाधान का—दिन था। तब से.........

मालूम होता है गर्भाधान कमजोर रहा था। बात यह है कि जो पिता बना था वही माता भी था और, यद्यपि पिता में किसी साहसिक प्रवृत्ति का ओज था, उसके मातृत्व में तेजोधारिणी के ममत्वबल की कमी थी। एक महीना और चौबीस दिन के भीतर मातृगर्भ का तो कदाचित रेचन हो चुका था। परन्तु पिता इससे अनभिज्ञ रह कर अपनी पैतृक अहमन्यता में पिता ही बना हुआ था। धर्म-परिवर्तक नए मुल्ला के जोश में वह अपने नए धर्म के भीतर प्रविष्ट न हो उसके तलवर्ती विशाल विज्ञापनों के ही रौब से लबालब था। ईश्वर का शैशव पिता के अहंकार की कुरूपता में छायामयी रज्जु का दीर्घाकार अजगर बन बैठा था।

गर्भाधान के एक महीना और चौबीस दिन के भीतर ही यह स्वनिर्मित पिता विक्षुब्ध और विपन्न व्यक्तियों को ईश्वर

की बड़ाई और उसमें श्रद्धा रखने का उपदेश देने लगा। जो ईश्वर पर विश्वास न रखते, उन पर तरस खाने लगा, कभी कभी झुँझलाने भी लगा।

इसके पड़ोस में एक अनीश्वरवादी-से नवयुवक रहते थे जो दस बारह वर्ष वलायतों में रह आकर भी जीवन और उद्देश्य में स्थिर न हो सके थे। यह सज्जन महत्वाकांक्षी थे, ओजोयुक्त थे, संकल्पवादी और कर्मवादी थे—पर, अनिश्चित थे और असमर्थ थे। 'भाग्यवाद' 'रहस्यवाद' 'तत्वजिज्ञासा' जैसे शब्दों को वह नहीं समझते थे, समझना भी नहीं चाहते थे। उनकी दृष्टि में कर्म और संकल्प की इस प्रकार की वादों जिज्ञासाओं से शत्रुता है। ये सब अकर्मण्य मनुष्यों के बहाने हैं, मिथ्या हैं और सकर्मण्यों को अकर्मण्य बनाने वाले हैं।

'पिता' ने इनसे कई बार ईश्वर की चर्चा चलाई थी। पूछा था, "क्या तुम ईश्वर को बिलकुल नहीं मानते ?" और इन्होंने एक वाइस--चासलर की भाँति—हँस कर तो नहीं उत्तर दिया था, "ईश्वर-वीश्वर के पचड़ों में पड़ना ही ठीक नहीं।" फिर, अपनी तरह. "क्या मालूम, ईश्वर है भी या नहीं। यदि हो भी तो हमें उससे क्या ?" और—"मुझे नहीं मालूम कि मैं ईश्वर को मानता हूँ या नहीं या, यदि कभी भूले से मान भी लेता होऊँ तो कैसे और किस रूप मे मानता हूँ।"

इस तरह की बातों के बाद 'पिता' सदैव उन पड़ोसी के प्रति करुणा दिखाता हुआ अपने भीतर एक आत्मगौरव

और आत्मश्लाघा का अनुभव करता था। जो श्रेष्ठ है, जो बड़ा है; वही तो छोटों पर करुणा कर सकता है। उसे पड़ोसी-जैसों की उच्चाभिलाषा, मानसिक दृढ़ता, आदि की बातचीत में मिथ्या अहंकार की थोथी वाचालता ही दिखाई देती है। वह कहता है कि अपने संकल्प और कर्म में ईश्वरीय इच्छा को ज़रा भी स्थान न देना केवल अरण्यरोदन है—आकाश-कुसुम तोड़ने का प्रमादी प्रयास है।—क्षुद्र!

आज, 'दस आठ' सैंतीस को 'पिता' के अहङ्कार की पोल उसके सामने ही खुल गई। संध्या को, दीपालोक के समय 'पिता' पड़ोसी के यहाँ गया था। बैठक के मध्यस्थ विशाल कमरे के बराबर में दोनों ओर छोटे-छोटे कई कमरे हैं। इन कमरों में पड़ोसी अकेला ही रहता है। एक कमरा उसका शयनागार है। शेषों में सामान है। बैठक के कमरे में दरी बिछी है, कुछ कुर्सियाँ रक्खी हैं, और द्वारों पर पर्दे पड़े हैं। 'पिता' ने देखा, बैठक में प्रकाश नहीं, है। शायद पड़ोसी कहीं गया है। इसलिए पुकारा नहीं पुकारने का, वैसे भी, किसी स्त्री के न होने के कारण, अभ्यास नहीं था। परन्तु झाँक लेने की प्रवृत्ति हो आई। झाँकने पर कुछ गुनगुनाहट कानों में पड़ी। शयन की कोठरी में धीमा प्रकाश था।

"पिता" को कौतूहल हुआ। क्या उसने यह समझा कि पड़ोसी किसी प्रेयसी को प्रेम-संगीत सुना रहा है? शायद नहीं। तब क्या ...? चुपके से छिप कर सुनने की अपनी

तात्कालिक प्रवृत्ति को, बुरी समझता हुआ भी, वह रोक न सका।

अनीश्वरवादी प्रार्थना कर रहा था।—ईश्वर की। और दीवार से लगकर सुननेवाले को उसका प्रत्येक अक्षर, सुनाई दे रहा था। हिन्दी के स्तवन और संस्कृत के श्लोक जो कि ईश्वर के इस 'बाप' ने कभी न सुने थे, पड़ोसी के उच्चारण में इस बात का प्रमाण दे रहे थे कि उसे उनका खूब अभ्यास है। उसकी उच्चारण-रीति ही यह भी बतला रही थी कि उसका हृदय कितना उमड़ा आ रहा है। वाणी का आवेश दीनता का आवेगपूर्ण उत्स बना हुआ था जिससे पड़ोसी का शयनकक्ष, ऐसा लगा, नीचे से ऊपर तक आप्लावित हो गया हो। पड़ोसी उसमें डूब रहा था, तन्मय था, आत्मविस्मृत, अखिल-विस्मृत था। 'पिता' ने ज़रा-सा किवाड़ों की झिरझिरी में को झाँक भी लिया। उसने ईश्वर के अपेक्षक को दंडवत् होते देखा, रोते देखा, और अपने को धिक्कारते हुए देखा। उसकी 'शंकर' और 'विष्णु' और असंख्य 'त्राहि माम्' की दबी हुई चीत्कारों में ईश्वर के 'जनक' ने अपना भी 'चोर की दाढ़ीवाला तिनका' देखा।

'जनक' की आँखें जैसे झप सी गईं। वह चुपचाप पैर दबा कर अपनी चौर्यस्थली से वापिस लौट आया धीरे-धीरे, बहुत धीरे। घर पहुँच कर अपने को कहीं एकांत में बन्द कर वह सोचने लगा। उससे सोचा नहीं गया। मद के चूर्ण होने का आघात उसे सुखद था, पर वह उसे सह नहीं सका। लेट गया, फिर उठा, टहला और फिर पूर्ववत् बैठ गया।

आज उसे अपनी वास्तविकता मालूम हुई। वह आज तक एक बार भी ऐसा न हो सका जैसा कि उसने अपने पड़ोसी को देखा—वह ईश्वर को, परम प्रकाश को, जन्म देन वाला अन्धस्! तब क्या उसका 'ईश्वर,' 'ईश्वर' चिल्लाना ढोंग ही था, या उससे भी बुरा कुछ?—आत्मप्रवंचना!

आज उसे मालूम हुआ कि भाग्य और रहस्यवाद और तत्वजिज्ञासा की खिल्ली उड़ानेवाले इस नास्तिक की नास्तिकता में भी जो कभी-कभी ओज दिखाई देता है उसका उद्गम कहाँ है। उसका ओज स्वाभाविक है, इसलिए कि वह ओजःस्वरूप के इतना सन्निकट है। उसने अजन्मा को जन्म देने की विधित्सा में अपना समय नष्ट नहीं किया है। उसने आदर्श को प्रत्यक्ष बनाने और प्रत्यक्ष की प्रदर्शनी दिखाने का व्यवसाय नहीं किया है। हृदय की सब से निचली तह से उछलकर उसकी गद्गदता आसमान को नीचा दिखाती है। यही उसकी महती शक्ति है जो उसकी श्रद्धाविहीन वाणी को विश्वास का आग्रह प्रदान करती है।

और तब नकली बाप कहता है—तुम हो! तुम हो, मेरे पिता! मैं ही नास्तिक था। निरहंकारी के लिए, हृदय के शुद्ध के लिए, तुम सदा से हो। और जो शुद्ध हैं, निरहंकारी हैं, वे तुम्हारे सदा से हैं। क्या मैं भी कभी निरहंकारी बन सकूँगा, शुद्ध हृदय बन सकूँगा; क्या मैं भी कभी तुम्हारा बन सकूँगा?"

अगले रोज़ अपने पड़ोसी से भेंट होने पर उसने उससे फिर पूछा, "क्या सचमुच ही तुम ईश्वर को नहीं मानते?

सदा की भाँति पड़ोसी ने वही उत्तर दिया—पता "नहीं, ईश्वर कोई है भी, अथवा, यदि है तो क्या है। यह सब सोचना—वोचना बेकार है।"

और पिछली रात वाले प्रकाश में पिता ने—अब तो पुत्र ने-भी अनुभव किया, सचमुच यह सब सोचना-वोचन में बेकार है। ईश्वर सोचने में नहीं है।

३

बहुत दिनों तक बीमार रहने के कारण स्वास्थ्य बड़ा खराब हो गया था। इसीलिए विचार हुआ कि गर्मियों में दो ढाई-महीने किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में बिताए जाएँ। सस्ता होने के अतिरिक्त देहरादून में कुछ और भी विशेषताएँ दिखाई दीं। फलतः परिवारसहित पहुँच कर देहरादून के सामने ही एक होटल में ठहरने के लिए दो कमरे लिए।

देहरादून स्टेशन पर उतरने के बाद सबसे पहले और, बाद में, सब से अधिक मुलाकात—कहिए कि मित्रता-मेरी जिस व्यक्ति से हुई वह उस होटल का गाइड (guide) था। उसका नाम, समझ लीजिए चमनसिंह था। दुबला पतला, काला मुमूर्षु सा व्यक्ति! मैंने सोचा, यह कैसा राजपूत है। आकृति से वह पहाड़ी नहीं मालूम होता था। अन्यथा मेरी विजिज्ञासा का स्वतः ही समाधान हो जाता। कौतूहलवश एक रोज पूछा ही; और पता लगा कि वह संयुक्तप्रांत का कायस्थ है। बातचीत में चुस्त-चालाक, फुर्तीला, हर तरह की सेवा करने को हर समय तत्पर, खुशामदी ढँग का सा मनुष्य था। कदाचित् यह तमाम गुण, या अवगुण, उसकी नौकरी

की आवश्यकताओं और ग़रीबी के कारण, समय के अभ्यास से, उसमें आगए थे। और यों भी खुशामद से कौन नहीं पसीजता; और मैं भी आदत का कुछ अल्हड़-सा हूँ। मिलने वाले वैसे भी मेरे काम करने के समय तक को फ़ालतू तरीके से ख़राब कर जाते हैं। देहरादून में मुझे काम ही क्या था; और ग़रीब चमनसिंह मेरा पहला मुलाक़ाती था, जो मेरे आराम को पूछने आया करता था।

उसे यह ज़रूर मालूम होगया था कि मैं कभी-कभी बियर पिया करता हूँ। एक रोज़ मेरे बियर पीते समय वह आ-गया और मैंने किसी भावुकता से, जिसका विश्लेषण करना यहाँ निरर्थक है, उसे बियर पिलाई। इस पर उसने मुझे एक राजा साहब की कथा सुनाई, जिनका स्वभाव मेरा ही जैसा उदार और हँसबोला था और जिन्होंने एक रोज़ ज़िद करके उसे टब में बिठा कर शराब से नहलाने का प्रण किया था। तथापि मेरी उसकी मैत्री के बढ़ने का एक दूसरा कारण था।

अपनी बीमारी के प्रसंग से ही कुछ होमियोपैथिक औषधों से मेरा परिचय होगया था। एक पुस्तक ख़रीद कर थोड़ी सी दवाइयां अपने साथ रखने का मैंने उन दिनों अपना नियम बना लिया था। मेरी सहानुभूति का कुछ अंश प्राप्त करके, उसी को और अधिक प्राप्त करने के उद्देश्य से, या अपनी वास्तविक स्थिति की दयनीयता में, चमनसिंह ने एक रोज़ अपने बीमार बच्चे का हाल कहा। उसे बहुत समय से यकृत का रोग था, जिसके उपचार में वह गरीब आदमी भिखमंगा होगया था। उसकी प्रार्थना पर मैं उसे औषध

देने लगा। इस प्रसंग से उसे मेरे पास बैठने का अधिक अवसर मिलने लगा। उसके बच्चे को लाभ होता जाता था और चमनसिंह मेरा कृतज्ञ होने के साथ-साथ भगवान् का भी कृतज्ञ हुआ। "गुरु महाराज की ही दया से आप घर बैठे मिल गये और अब गुरु महाराज की दया होगी तो बालक चंगा हो जायगा। गुरु महाराज आपको भी खूब तरक्की देंगे और आपकी तन्दुरुस्ती जल्दी अच्छी हो जाएगी—" आदि प्रकार की बातें वह मुझसे प्रायः किया करता।

गुरु महाराज देहरादून के सार्वसुलभ देवता हैं। यह सिक्खों के गुरु रामराय हैं। देहरादून इन्हीं का बसाया हुआ है, और उनकी आध्यात्मिक शक्ति से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी चामत्कारिक किम्वदन्तियाँ-अब तो विश्वास होता है, यथार्थ घटनाएँ—देहरादून में प्रसिद्ध हैं। लोग कहते हैं गुरु महाराज जब जीवित थे तो वह अपना शरीर छोड़कर चले जाया करते थे और फिर वापिस आकर उसी शरीर में प्रवेश कर लेते थे। यह भी कहा जाता है कि झंडा मोहल्ले में, जहाँ कि गुरु महाराज का 'दरबार' है, अभी भी बिच्छू के काटने का असर नहीं होता। समस्त देहरादून—सिक्ख और हिन्दू—गुरु रामराय के सामने नतमस्तक होता है और हरेक की निवेदनाएँ उनके कानों में पड़ती हैं। उनका एक बहुत बड़ा मन्दिर देहरादून में है, जिसे 'दरबार' कहते हैं। गुरु महाराज के दरबार में किसी दिन चलने के लिये चमनसिंह मुझसे अनेक बार आग्रह कर चुका था।

परन्तु गुरु महाराज के दरबार के लिए मेरी उतनी

प्रवृत्ति न हो पाई। इसका कारण यह न था कि दूसरी जातियों के महात्माओं या देवताओं के प्रति मैं किसी प्रकार का द्वेष भाव रखता हूँ। वास्तव में देहरादून की सार्वजनिक भावना मुझ नवागन्तुक के लिए सहज न थी। द्वेष न होना एक बात है और श्रद्धा होना दूसरी। गुरु महाराज के दरबार का मेरे लिए एक ऐतिहासिक स्मृतिचिन्ह से अधिक कोई विशेष महत्व न था, और इतिहास तथा ऐतिहासिक स्थानों से मेरी कभी अधिक रुचि नहीं।

तथापि चमनसिंह की बातचीत में भगवान् की जो बार बार चर्चा आती थी वह, विशेष रूप से उन दिनों, मेरे भीतर किसी प्रकार की भावुकता का कारण बन जाती थी। यह स्वाभाविक था। डेढ वर्ष की एक घोर व्याधि परम्परा के बाद दुर्बल प्राणी के पास भगवदनुकम्पा के विश्वास के अतिरिक्त और सम्बल ही क्या रह जाता है?—मुख्यत: जब कि सहानुभूतिपूर्ण हृदयों से ईश्वरीय करुणा की ही अधिकतर उदाहृतियाँ उसके सामने आती रहें! अत: चमनसिंह के बच्चे की बीमारी के अतिरिक्त इस प्रकार की चर्चाएँ ही मेरी और चमनसिंह की बढती हुई मित्रता का मुख्य हेतु हुईं।

तथापि—ईश्वरीय विश्वास और सम्बल की बात ठीक होते हुए भी—यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य का हृदय बड़ा दुर्बल है। तात्कालिक सुफल का अभाव या कभी-कभी भावी आशंकाओं का भय मनुष्य के ईश्वरीय विश्वास को दृढ़ नहीं होने देता। उसके कायर हृदय में बल नहीं आ पाता। यह भी उसका एक प्रकार का अहंभाव ही है कि अपने को कुछ

समझता हुआ—निर्बल ही सही—वह सदा डरता रहता है। मुझे देहरादून में आए तीन सप्ताह से अधिक होगये थे, परन्तु मन और शरीर में शायद मनोवाछित स्फूर्ति नहीं आ पाई। रुपया भी मेरी सामर्थ्य से—यथार्थ में अब सामर्थ्य ही कहाँ रह गई थी—अधिक खर्च हो चुका था। मन में निर्वेद और निराश असहायता की लहरें उठती रहती थीं। और उन्हीं के किसी बलवत् आवेग में एक रोज मैंने निश्चय कर लिया कि अब तत्काल देहरादून से वापिस लौट जाना चाहिए। और वर्षा भी तो आरम्भ होगई थी, जिससे सोने बैठने, घूमने-फिरने की स्वच्छता न रह गई थी।

तब चमनसिंह वेचैन हो उठा, । "एक दम यह इरादा कैसा ?....—आपकी दया से बच्चा जी गया है। अब उसे पूर्ण नीरोग बनाना भी तो आपही का कर्तव्य है . आपका स्वभाव बड़ा अच्छा है—राजा साहब से भी अच्छा...मुझे बड़ी तसल्ली थी......मैं होटल में आपके और ज्यादा आराम की कोशिश करूँ..." आदि-अमद उसके—जहाँ तक मैं समझता हूँ—हार्दिक उद्गार थे। पर मैंने निश्चय कर ही लिया था। मन में एक दम उच्चाटन होगया था। मैंने उसे तसल्ली दी—"मैं तुम्हें कई रोज की दवा दे जाऊँगा और उसका नाम लिख दूँगा। बाद में किसी होमियोपैथ के यहाँ से लेलिया करना। हफ्ते वार मुझे चिट्ठी लिखते रहना।"

जब वह समझ ही गया कि मैं न रूकूँगा तो उसने कहा, "तो जाने से पहले एक रोज गुरु महाराज के दर्शन

तो अवश्य कर लीजिये। आज ही चलिए।"

मेरी पत्नी देहरादून की ही हैं। उन्होंने भी कहा, "गुरु महाराज के दरबार में एक बार तो चलो ही जी।"

वर्षा के भय से अधिक दूर नहीं घूमने जा पाते थे, और गुरु महाराज का दरबार पास ही था। मैंने सोचा, बच्चों का जी ही बहलेगा, और मैंने पत्नी की प्रार्थना स्वीकार कर ली।

सन्ध्या का समय—लगभग सात बजे होंगे। मैंने कहा, "तैयार होओ।" और, यद्यपि देव दर्शन का भूल कर भी भाव न था, मैं ही सबसे पहले तैयार होगया। नीचे खड़ा चमनसिंह हम सब की प्रतीक्षा कर रहा था। उसके सुझाने पर मैंने अपना सिगरेट-केस वापिस कमरे में भेज दिया, क्योंकि सिक्ख धर्म में तम्बाकू निषिद्ध है। यह तो बाध्यता की बात थी, अन्यथा मेरी निरपेक्ष बुद्धि मन्दिर (दरबार) का बाहरी द्वार पार कर लेने तक भी अक्षुण्ण भाव से मेरे पास चिपकी हुई थी। जिन्हें पता है वे कह सकेंगे कि मन का बड़ा भारी पौरुष प्रायः इस बात में दिखाई दिया करता है कि जिस बात से अलिप्त रहने की हम कल्पना कर लेते हैं मन उसके लेप का बार बार हमसे बल पूर्वक स्पर्श करा कर हमें विश्वास दिलाने की चेष्टा करता है कि हम वास्तव में सर्वथा निर्लिप्त हैं। और, हम ही मन हैं; अतः मन की, हमारी, यही सामर्थ्य, यही असामर्थ्य, हमारी मनुष्यता है, मन की मानवता है।

दूसरा द्वार पार करते ही, चौक के उस पार, बरामदे

के पीछे—अथवा बारहदरी के बीच में-गुरु महाराज का मन्दिर है जिसमें उपासकों की श्रद्धा और अर्चना के बहु-मूल्य प्रतीकों से सुसज्जित गुरु महाराज का आदि-पर्यंक बिछा हुआ है। बरामदे में पुरुष और स्त्री भक्तों का समागम समुदित है। कोई देहली पर सिर टेक रहे हैं, कोई जेब से पैसा डाल रहे हैं और कोई इधर उधर घूम रहे, हैं। एक वृद्धा महिला मन्दिर-द्वार की चौखट से लगी हुई आसन पर बैठी, माला जप रही है। कोई कोई, विशेषतः अधेड़, आरती के पूर्वाभास-स्वरूप कुछ गुन गुना से भी रहे हैं।

देवोपस्थिति और इस वातावरण के प्रभाव में मेरे भीतर कुछ ससम्भ्रम आदर और विस्मय का—सा अस्फुट भाव परिलक्षित हुआ। पर मैंने विश्वास किया कि यह कृत्रिम है। जिसके लिए हृदय में किसी प्रकार की भावना नहीं है, न जिससे अपना कोई सम्बन्ध ही है, अपरिचित अफ़सर के सामने भी मन का कभी-कभी यही शिष्टाचार हो जाता है। जानय महत्त्व रखने वाले एक महा पुरुष के सामने यदि मेरा भाव कुछ ऐसा होगया तो उचित ही है। इसमें अन्य किसी भावान्तर के संश्लेष की सम्भावना क्यों लगाई जाए? फिर कदाचित् इसी शिष्टाचार की भावना के अनुपालन में मैं, भी देहली के सामने, अपने परिवार के पीछे, सादर मुद्रा में खड़ा हो गया; और जब वे एक-एक पैसा गुरु महाराज के पलँग पर डालने लगे तो मेरा हाथ भी अनायास मेरी जेब में चला गया।

पर जेब में पैसे के स्थान में दोअन्नी मिली। निमेषार्ध

के लिए मैं झिझका। फिर सोचा कि हाथ में दोअन्नी आई है तो यह गुरु का अतर्कणीय देय है, जिसमें मेरे संकल्प विकल्प का कोई काम नहीं है। मैं आगे बढ़ा। हृदय से जागरूक था कि सिर झुकाने की कोई आवश्यकता नहीं, जैसा कि और लोग कर रहे थे। तथापि जब दोअन्नी छोड़ने को हाथ बढ़ा तो सन्देह हुआ कि मेरा भी सिर झुक गया है--और तब तो, जो और लोग कर रहे थे वही मैंने भी, अनजाने, कर डाला।

इसके बाद तो अपने से विद्रोह—या जो मैं नहीं था उससे विद्रोह—मैं नहीं कर सका। आप उसे शिष्टाचार ही कहें या कुछ और। पर मैं नहीं जानता। चमनसिंह हम सबको परिक्रमा कराने को लेचला। मैं, बिना किसी तर्क के, सबके साथ चल दिया। और इतना कर लेने पर मैं फिर अपने आप को समझाने लगा कि मैंने केवल महत्व पूजा, एक महापुरुष की सत्क्रिया, की है। सिक्खों के लिए यह बिलकुल स्वभाविक है कि वे अपने महापुरुषों को देवपदवी दें, पर यदि मैं भी सब महापुरुषों को देवता मानने लगूँ तो मेरे लिए उनका कहीं अन्त ही न होगा। और मैं अपने देवता के सामने मिथ्याचारी बन जाऊँगा।

मेरा देवता कौन है? क्या मैं बतला सकता हू? क्या है भी मेरा देवता कोई? मैं अपने सामने किसी को मानने का ढकोसला करता रहता हूं-जिसे मानने का ढकोसला करता रहा हूँ उसे मानों धोखा देने की मूर्ख चेष्टा करता रहा हूँ। अपने ढकोसले और कपट में, ऐसे अवसर पर,

समर्थ बन कर मैंने सोचा कि मैं अपने देवता के सामने मिथ्याचारी बन जाऊँगा।

मानसिक उथल-पुथल की दूसरी भूमिका में दिखाई दिया कि सिक्ख ही कहाँ अपने प्रत्येक महापुरुष को 'देवता मान लेते हैं। राजनैतिक महत्त्व और ऐतिहासिक प्रसिद्धि की दृष्टि से गुरु रामराय से अधिक विख्यात व्यक्तित्व के महापुरुष सिक्खों में, हो चुके हैं। उन सबको सिक्खों ने देवता कब बनाया है।

तब अवसर की अनुरूपता में मुझे सादर होना ही चाहिए —और सच्चे सद्भाव से। क्योंकि जीवन में यदि मैं अपने को किसी रूप में नहीं देखना चाहता तो वह कपटी का रूप है। फलतः मैं वहा गुरु महाराज की वन्दना करता हूँ, परन्तु अपने देवता का स्मरण करता हुआ।

तथापि, क्या मैं इस प्रकार अपने को धर्म-संकट से बचा पाया? अभी आरती होगी। लोग गुरु महाराज के भजन गाएँगे। मैं ज़ोर से उनके साथ न भी गाऊँगा तो क्या मैं मूक रह सकूँगा। और यदि हृदय में गाऊँगा तो क्या उपस्थित भक्तों के उद्गारों में सम्मिलित होकर अपने देवताओं का तिरस्कार करूँगा? अथवा केवल अपने देवताओं का संकीर्तन कर अपने इहकालीन भावनिक गुरु (महाराज) का अपमान करूँगा।

फिर, मन को समझाता हूँ कि ईश्वर एक है, सब देवता एक हैं, गुरु रामराय और मेरे देवता एक हैं, किसी का भी नाम लो या सब का नाम लो-कोई अन्तर नहीं है। पर मन कहता है-तेरा यह तर्क आत्म-प्रतारणा है, पलायन का

तर्क है ! ठीक है तो ! ......मैं संकट में हूँ ! .....

आरती आरम्भ होगई। कानों में शब्द पड़े—'परब्रह्म' 'परमेश्वर'। पहले ये शब्द पड़े। बाद में 'रामराय' का शब्द। और एक ही गायन में 'राम' और 'रामदूत' और कृष्ण बोल उठे। मैं चौंका। कान खोल कर फिर सुना। फिर वे ही शब्द, वही क्रम। हिश् ! हिश् ! .. ध्यान से सुन और ध्यान से देख .....! संकीर्तकों की ओर देखा। भिन्न-भिन्न नामों के साथ कोई भाव परिवर्तन नहीं, कोई दुराव नहीं। सिक्ख और असिक्ख में कोई वचन—वाचन का भेद नहीं। देखा फिर गुरु की पलंग की ओर। ऐं .

पलँग पलँग नहीं हैं। एक प्रकाश—पुंज है पलकों। के झपने का भ्रम हुआ। फिर पलकों को विस्तारित किया। यह कौन बैठा है ? रामराय ? रामदूत ? परब्रह्म प्रकाश-पुंज ? .. प्रकाशपुंज है कि हँसी का ढेर ? स्नेह का अदुविधा की मुसकान—ठीक जैसे रामराय और राम और रामदूत मुस्कराए हों। और आँखें फिर झप गईं।

बाद में फिर देखा तो संकीर्तक निर्भय, प्राकृतिक अभेद में गा रहे हैं—कोई झूम कर, कोई दार्शनिक निर्द्वन्दवता के निश्चल भाव में। और पलँग अब पलँग है। आरती भी हो चुकी। मैं मूर्ख बन गया। मैं अमूर्ख होगया। जिस ईश्वरीय एकता को, देवों की अभेदता को, छाया तृण का रूप देकर मैं अपने संकटों में आत्मत्राण का हेत्वाभास, डूबते का सहारा बना रहता था वह इन अधिकांश अशिक्षित, आतार्किक उपासकों को अनायास सिद्ध था। वे किसी संकट में न थे, भागने की भी आवश्यकता न थी।